कामसूत्र और फ्रायड

कामसूत्र और फ्रायड

के संदर्भ में हिन्दी काव्य का अनुशीलन

डॉ० रूपचन्द गोविन्द चौधरी

रचना प्रकाशन
[illegible]

प्रकाशक
जीत मल्होत्रा
रचना प्रकाशन
45 ए, खुल्दाबाद
इलाहाबाद
२११००१

●

प्रथम संस्करण 1973 | मूल्य १५ रुपये

●

मुद्रक
इलाहाबाद प्रेस,
३७०, रानी मंडी,
इलाहाबाद
२११००३

प्राक्कथन

काम एक जीवनविधायिनी शक्ति है जिससे समस्त प्राणिजगत् अनुप्राणित है। मनुष्य की एषणाएं काम के द्वारा ही संचालित होती हैं। काम ही जीवन के सौन्दर्य और माधुर्य का उत्स है। लौकिक और आध्यात्मिक साधना का यह प्रधान स्रोत है। उसके समुचित सेवन और उन्नयन में ही जीवन की सफलता निहित है। काम प्रवृत्ति संस्कृति की आधारशिला है। सामाजिक जीवन की अखण्डता उसकी वैध सन्तुष्टि पर आधारित है। काम ही जगदुत्पत्ति का मूल कारण है। उत्पत्ति, स्थिति और लय उसकी प्रेरणा के फल हैं। काम संवरण निष्कलों का दाता है। श्रेयस् और प्रेयस् की प्राप्ति उसके दिशा निर्धारण पर अवलम्बित है। व्यष्टि, समष्टि, तथा परमेष्ठी में सामरस्य सम्बन्ध की सृष्टि वही करता है। आमुष्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाला वह आदि देवता है। उसकी सामर्थ्य अजेय है, उसकी प्रेरणा अदम्य है। वह स्त्री-पुरुष को एकत्व में आबद्ध कर परिवार की नींव डालता है और सांस्कृतिक विकास को सम्भव बनाता है। वह भक्त के हृदय को उद्वेलित कर उसे ईश्वरोन्मुख करता है और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कराता है।

मनुष्य के समस्त कार्यकलापों को परिचालित करने वाले इस काम भाव का साहित्य में अक्षुण्ण स्थान है। उसकी अनिर्वचनीय महिमा के कारण ही शृंगार को रसराज का पद प्राप्त हुआ है। काम साहित्य का मूलाधार है, क्योंकि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में काम प्रवृत्ति सब से अधिक बलवती है। लौकिक और अलौकिक प्रेम तथा शृंगार और माधुर्य की साहित्यिक अभिव्यंजना इसी प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष या परोक्ष अभिव्यंजना है। प्रबन्ध हो या मुक्तक, गद्य हो या पद्य, विश्व-साहित्य के समस्त रूपों में इसकी प्रधानता है। साहित्यशास्त्र इसका सबल प्रमाण है। इसके नायक-नायिका भेद, दूत दूती विधान, संयोग वियोग-वर्णन, नखशिख, कथानक रूढ़ियाँ, अलंकार और भाषाशैली आदि सब अंगों में काम भाव की प्रतिच्छाया परिलक्षित होती है।

भारतीय मनीषियों ने काम की अनिवार्यता और प्रबलता देखी थी। उसका शास्त्रीय विवेचन करने के हेतु उन्होंने कामशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है महर्षि वात्स्यायन विरचित 'कामसूत्र'। यही समस्त कामशास्त्रीय ग्र थों में, जो आज उपल ध है, सबसे प्राचीन और प्रामाणिक है। आधुनिक युग म काम की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले मनीषी हैं सिगमण्ड फ्रायड। वात्स्यायन और फ्रायड द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के स दभ में मध्यकालीन हि दी काव्य का अनुशीलन प्रस्तुत प्रब ध का लक्ष्य है। कामसूत्र तथा उसके परवर्ती कामशास्त्रीय ग थों का प्रभाव हि दी काव्य पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। फ्रायडीय मनोविश्लेषण के स दभ म भी उसकी समुचित व्याख्या की जा सकती है। कामसूत्रीय एव फ्रायडीय काम सिद्धा तों के आधार पर हि दी काल की प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर उसकी आलोचना को एक नया आयाम प्रदान करने का प्रयत्न प्रस्तुत प्रब ध मे किया गया है।

इसके प्रथम अध्याय म कामशास्त्र के स्रोत और उसकी परम्परा का विवेचन प्रस्तुत कर उसमें कामसूत्र का स्थान निर्धारित किया गया है। इसम यह उपस्थापित किया गया है कि कामशास्त्र का स्रोत वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। कामसूत्र के वर्ण्य विषयों का सक्षिप्त विवरण देकर यह स्पष्ट किया गया है कि धर्माविरुद्ध कामाचरण की शास्त्रीय ढग से शिक्षा देना ही इसका प्रयोजन है।

द्वितीय अध्याय म फ्रायड के सिद्धा तों का सम्यक परिशीलन कर साहित्य के अनुशीलन मे उसकी उपादेयता स्पष्ट करने का मौलिक प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय में वात्स्यायन और फ्रायड के सिद्धा तों की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है और हि दी साहित्य के अध्ययन में उसकी महत्ता स्थापित की गयी है। कामसूत्रीय और फ्रायडीय काम सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन इस अध्याय की मौलिकता के प्रति सकेत करता है।

चतुर्थ अध्याय में वात्स्यायन और फ्रायड के सिद्धा तों की साहित्यशास्त्रीय उपादेयता स्पष्ट की गयी है और उसके आधार पर साहित्य की मर्यादा तथा काम भाव का पारस्परिक सम्ब ध निर्धारित किया गया है। डा० नगे द्र के अभिमत को स्वीकार कर इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सस्कृत साहित्यशास्त्र के रससिद्धान्त का मूल स्रोत कामसूत्र है। फ्रायड के साहित्यविषयक विचारों की समीक्षा भी इस अध्याय में प्रस्तुत की गयी है।

सन्त-काव्य में काम भाव के स्वरूप का विवेचन पचम अध्याय में किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि स तों की साधना में दाम्पत्य भाव की प्रतिष्ठा रही है। स तों की कान्ता भक्ति का सर्वथा नवीन दृष्टि से विश्लेषण

कामसूत्र और फ्रायड के सिद्धान्तो के आधार पर किया गया है। इस अध्याय की मौलिक विशेषता है सन्तो की अपरोक्षानुभूति (मिस्टिक एक्सपिरियन्स) तथा अभिव्यंजना-पद्धति का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन।

षष्ठ अध्याय का प्रयोजन है प्रेमाख्यानक काव्य की प्रवृत्तियो का कामसूत्रीय एवं मनोविश्लेषणात्मक तत्त्वो के आलोक में विवेचन। शुद्ध और रूपकात्मक प्रेमगाथाओ के रचयिताओ की दृष्टि प्रेम-स्वरूप के निरूपण पर केन्द्रित हुई है। इस अध्याय में सोदाहरण प्रमाणित किया गया है कि प्रेमाख्यानक काव्य का सयोग वियोग-वर्णन कामशास्त्रानुकूल है। प्रेमाख्यानक काव्य की प्रेम-पद्धति, प्रतीकात्मकता और शीलनिरूपण की व्याख्या सर्वथा नवीन दृष्टि से इस अध्याय में की गयी है।

सप्तम अध्याय में सगुणोपासक कवियो—कृष्ण भक्ति धारा तथा रामभक्ति धारा के कवियो की रचनाओ में अभिव्यक्त काम भाव का विश्लेषण किया गया है। कृष्ण काव्य तथा रसिक परम्परा के राम काव्य का केन्द्रबिन्दु है माधुर्य भाव। गोपी भाव, राधा भाव तथा सखी भाव का मनोविश्लेषणात्मक विवेचन और सयोग वियोग पक्षो का सम्यक उद्घाटन इस अध्याय की विशेषता है। तुलसी काव्य का भी कामशास्त्रीय और फ्रायडीय सिद्धान्तों के आलोक में परिशीलन इसमें किया गया है।

अष्टम अध्याय में उत्तर-मध्यकालीन काव्य, जिसे रीतिकाव्य या शृंगार काव्य कहा जाता है, की प्रवृत्तियो का वात्स्यायन और फ्रायड द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो के आधार पर उद्घाटन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि कामसूत्रीय और फ्रायडीय तत्त्वो का प्रतिफलन उसके भाव पक्ष में अविकल रूप में हुआ है। शास्त्रीय शृंगार-काव्य धारा तथा स्वच्छन्द शृंगार-काव्य धारा के कवियों की प्रवृत्तियो और अनुभूतियो में जो अन्तर है उसका मनोविश्लेषण तत्वों के आधार पर विश्लेषण इसमे किया गया है। शृंगार के विभिन्न अगो का सर्वथा मौलिक ढंग से विवेचन इसमें किया गया है और मुक्तक रचना की अभिव्यंजना पद्धति की ओर नई दृष्टि से संकेत किया गया है।

हिन्दी के कतिपय विद्वान् आलोचको और शोधकर्ताओ ने हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते समय वात्स्यायन और फ्रायड के काम विवेचन की ओर निर्देश तो किया है, पर कामसूत्रीय और फ्रायडीय सिद्धान्तो के आधार पर समस्त काव्य की प्रवृत्तियो का समुचित और सागोपाग विश्लेषण अभी नहीं हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध एक मौलिक प्रयास है।

डा० दशरथराज जी के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में प्रस्तुत प्रबन्ध लिखा गया है।

उन्होंने सम्यक् पथ प्रदर्शन कर और अपने निजी संग्रह की कतिपय पाण्डुलिपियाँ देकर मुझे इस शोध कार्य में निरंतर प्रोत्साहित किया है। उनके प्रति आभार प्रकट कर मैं उऋण नहीं होना चाहता।

इस शोध कार्य में पूना विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष डा० आनन्द प्रकाशजी दीक्षित के अनुग्रह और सत्परामर्श से मैं लाभान्वित हुआ हूँ। मै उनका हृदय से आभारी हूँ।

हिन्दी के मूर्द्धन्य आलोचक डा० नगेन्द्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प० परशुराम चतुर्वेदी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० दीनदयालु उपाध्याय, डा० माता प्रसाद गुप्त, डा० देवराज उपाध्याय डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० भगीरथ मिश्र आदि के ग्रंथो से मैंने लाभ उठाया है। मैं इन सब विद्वानो का ऋणी हूँ।

गुरुवर आचार्य प० सीतारामजी चतुर्वेदी ने जिस अकृत्रिम स्नेह से मुझे शोध-कार्य की प्रेरणा प्रदान की है, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन किन शब्दों में करूँ?

—रूपचन्द गोविन्द चौधरी

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

विषय की परिधि

साहित्य मे काम

काम एक सावजनीन और सावकालीन प्रवृत्ति है। प्रेम काम की व्युत्पत्ति है। समस्त विश्वसाहित्य म इस प्रबल प्रवृत्ति की अभिव्यजना प्रकट या प्रच्छन्न रूप में हुई है। विश्व के महाकवियो ने कहा इस अनाविल रूप म अभिव्यक्ति दी है आर कही प्रतीक-रूपक में आबद्ध किया है। साहित्य चाहे एहिकतापरक हो अथवा अध्यात्मपरक प्रेमाभिव्यक्ति की प्रधानता सवत्र लक्षणीय है। साहित्य मूलत जीवन की अभिव्यक्ति है और चूकि जीवन में काम या प्रेम की अनिवायता है साहित्य म भी उसकी महत्ता सुप्रतिष्ठित है। प्रेम दुबल को भी प्रबल बना देता है, भीरु को भी युयुत्सु बना देता है। वह जीवन क रस का स्रोत है। वह मनुष्य को भोग की ओर प्रवृत्त करता है और असीम त्याग की भी प्रेरणा प्रदान करता है। उसकी सतुष्टि में सुख निहित है और विफलता में असीम पीडा। उसका उदात्तीकृत रूप मनुष्य की उदात्ततम प्रवृत्तियो को विकसित करता है और विकृत रूप हानतम विकारा की उत्पत्ति करता है। अभ्युदय और महोदय की चरम दशा पर प्रतिष्ठित कर वह ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कराता है और कभी वासना की अभिवृद्धि कर पतन की खाइ म भोक देता है। साहित्य म काम या प्रेम क विभिन्न रूपा की अभिव्यजना अनिवाय है। हिन्दी साहित्य भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है। इसके आदिकाल स आधुनिक काल तक, समस्त साहित्य रूपा म काम या प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। कवि अथवा साहित्यकार इसकी अभिव्यजना म अपनी समस्त सजना शक्ति लगा देता है।

कामसूत्र की उपादेयता

भारतीय मनीषिया न वयक्तिक और सामाजिक जीवन की साथकता पुरुषाथ सिद्धि मे मानी है। मनुष्य क एहिक आर आध्यात्मिक उत्कष क लिए धम, अथ काम और मो त का सन्तुलित सवन भारतीय विचार धारा का प्रमुख सिद्धान्त रहा है। इसस स्पष्ट है कि भारत म काम एक पुरुषाथ माना गया है। इस दश म धमशास्त्र, अथशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र क साथ कामशास्त्र का प्रणयन भी प्राचीन काल में ही हुआ है। काम का

हेय और अश्लील घोषित करना भारतीय विचारकों को सम्मत नहीं था। इसी कारण यहाँ काम का वैज्ञानिक विवेचन हुआ और उसके द्वारा स्त्री-पुरुषों को रतिशास्त्र की समुचित शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया। कामशास्त्र की परम्परा ब्रह्मा के सविधान से ही चल पड़ी और नन्दिकेश्वर, श्वेतकेतु, गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, दत्तक, वात्स्यायन, कल्याण मल्ल ज्योतिरीश्वर, पद्मश्री, जयदेव आदि आचार्यों ने इसे अक्षुण्ण बनाया। महर्षि वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। उसमें वात्स्यायन ने काम का मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय विवेचन किया है, कामाचरण की विधियों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है और रति-सुख की प्राप्ति के उपायों का यथाविधि निरूपण किया है। परवर्ती कामशास्त्रीय ग्रंथों पर कामसूत्र की अमिट छाप परिलक्षित होती है। पश्चिम के विद्वान भी कामसूत्र तथा अन्य कामशास्त्रीय ग्रंथों की महत्ता स्वीकार करते हैं।[1]

प्रस्तुत प्रबन्ध में कामसूत्रीय सिद्धान्तों की स्वीकृति का एक और कारण है। संस्कृत काव्यशास्त्र पर कामसूत्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है। नाट्यशास्त्र के आद्य प्रणेता भरत मुनि ने वात्स्यायन का ऋण स्वीकार किया है। भरत तथा अन्य रसाचार्यों ने शृंगार रस के उपादानों को कामसूत्र से ग्रहण किया है। रस की परिभाषा, शृंगार रस का रसराजत्व, उसके विभाव, अनुभाव आदि अंग, आंगिकादि अभिनय भेद, दूत-दूती विमर्श आदि का विवेचन काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में कामसूत्रीय निरूपण के अनुकूल ही किया गया है। अतः काव्य के शृंगार वर्णन का विवेचन करते समय काव्यशास्त्र में स्वीकृत कामसूत्रीय तत्त्वों का महत्त्व स्थापित करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यथार्थ में कामशास्त्र काव्यशास्त्र का अग्रणी है।

संस्कृत काव्यशास्त्र ही नहीं काव्य भी कामसूत्र का ऋणी है। कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, भारवि, भवभूति आदि श्रेष्ठ साहित्यकारों की रचनाओं में कामसूत्रीय तत्त्वों की स्वीकृति अवेक्षणीय है। इन कवियों की कामशास्त्र निपुणता स्थान स्थान पर प्रकट हुई है। इसके कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१ वात्स्यायन का सिद्धान्त है कि समरत में पति पत्नी एक-सा रति सुख प्राप्त करते हैं। 'नैषधीयचरित' में नल शीघ्र ही भाव को प्राप्त होने वाली दमयन्ती को रोकने

---

१ 'अवर स्टडीज़ आव सेक्सुअल लाइफ ओरिजिनेटिंग इन विएना एण्ड इन इंग्लैंड, आर मैच्ड आर सरपास्ड बाइ हिन्दू टीचिंग्ज आन द सब्जेक्ट।

—युंग, माडर्न मैन इन सर्च आफ ए सोल, १९३३, पृष्ठ २४९

का प्रयत्न करते है और उपचारा के द्वारा उसे रतिसुख की प्राप्त कराते है।[1]

२ स्तनालिंगन और नीरक्षीरकालिंगन का वर्णन माघ के 'शिशुपालवध' में प्राप्य है।[2]

३ मुखचुम्बन[3] और निमित्तक[4] का वर्णन 'किरातार्जुनीय' और 'कुमार सम्भव' में मिलता है। 'अमरुशतक' में प्रातिबोधिक[5] और 'नैषधीयचरित' में छाया

---

१ वीक्ष्य भावमधिगन्तुमुत्सुका पूर्वमच्छमणिकुट्टिमे मृदुम्।
कोऽयमित्युदितसम्भ्रमीकृता स्वानुबिम्बमददर्शनैष ताम्॥
तत्क्षणावहितभावभाविन द्वादशात्मसित दीधितिस्थिति।
स्वां प्रियामभिमतक्षणोदया भावलाभलघुना नुनोद स॥
स्वन भावजनने स तु प्रिया बाहुमूलकुचनाभिचुम्बने।
निममे रतरहः समापनाशमसारसविभागिनीम्॥

—नैषधीयचरितम्, १८, ११५, ११६, ११७

२ उत्तरायविनयात् त्रपमाणा रुन्धती किल तदीक्षणमागम्।
आवरिष्ट विकटेन विवोढुर्वक्षसैव कुचमण्डलमन्या॥
अनुरक्तहृतवता तनुबाहुस्वस्तिकापिहितमुग्धकुचाग्रा।
भिन्नशङ्खवलय परिपेत्रा पयगम्भि रभसादभिरोढा॥
पीडिते पुर उर प्रतिपन्न भर्तरि स्तनयुगेन युवत्या।
स्पष्टमेव दलत प्रतिनार्यास्तन्मयत्वमभवद्धृदयस्य॥
सम्प्रेप्सुमिव यापिन ईषु श्लिष्यता हृदयमिष्टतमानाम्।

—शिशुपालवधम्, १०, ४२, ४३, ४६, ४८

३ नीलदृष्टिवदन दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रभसेन।
व्रीडया सह विनीवि नितम्बादशुक शिथिलतामुपपेदे॥

—किरातार्जुनीयम्, ६, ४७

४ चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं सन्नहस्तमदयोपगूहने।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रिय प्रभोर्दुर्लभ प्रतिकृत वधूरतम्॥
यन्मुखग्रहणमक्षताधर स्तव्रणपद नख च यत्।
यद्रत च सन्त्य प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत्॥

—कुमार सम्भवम्, ८, ८ ९

५ शून्य वासगृह विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै।
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिर निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्॥

चुम्बन[१] के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

४ नखक्षत का वर्णन 'शिशुपालवध[२]', 'कुमारसम्भव[३]' और 'नैषधीयचरित[४]' में उपलब्ध है।

५ 'कुमारसम्भव' में दन्तक्षत का प्रयोग अवेक्षणीय है।[५] 'किरातार्जुनीय' में भारवि वात्स्यायन के 'वामशीलत्वाच्च वामस्य' का अनुवाद करते हैं और नखदन्तक्षत तथा चुम्बन का वर्णन करते हैं।[६]

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

—अमरुशतकम्, ८२

१ ययौ न कोऽपि क्षममास्यमेलितं जलस्य गण्डूषमुनीनसमदः।
चुचुम्ब तत्र प्रतिबिम्बितं मुखं पुरः स्फुरन्तया स्मरकामुकभ्रुवः॥

—नैषधीयचरितम्, १६, ६६

२ कामिनाममकलानि विभुग्नैः स्वेदवारिमृदुभिः करजाग्रैः।
अक्रियन्त कठिनेषु कथंचित्कामिनीकुचतटेषु पदानि॥

—शिशुपालवधम् १०, ८७

३ ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वती प्रियतमममवारयत्॥
नखव्रणश्रेणिधरे बबन्ध नितम्बबिम्बे रशनाकलापम्।
चलस्यचतो मुगबधनाय मनोभुवः पाशमिव स्मरारिः॥

—कुमारसम्भवम्, ८, ८७, ६, २५

४ यौ कुरंगमदकुंकुमाचितौ नीललोहितरुचौ वधूकुचौ।
स प्रियोरसि तयोः स्वयंभुवोराचचार नखकिंशुकार्चनम्॥

—नैषधीयचरितम्, १८, १०२

५ सप्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपदताडिताधरम्।
आकुलालकमरंस्त रागवान् प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम्॥

—कुमारसम्भवम्, ८, ८४

६ आहता नखपदैः परिरम्भाश्चुम्बितानि घनदन्तनिपाताः।
सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः॥

—किरातार्जुनीयम्, ६, ४६

६ वारणायक शब्दों[1] और सीत्कृतों[2] का प्रयोग 'शिशुपालवध' और 'किरातार्जुनीय' में कामसूत्र का अनुसरण सूचित करता है।

७ 'नैषधीयचरित' में कथाविस्रम्भण को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[3] कुमारसम्भव में भी इसका आकर्षक रूप चित्रित है।[4] नीवीमोक्ष[5], मद्यपान[6], कुचस्पर्श[7], नाभिस्पर्श[7] आदि वर्णन 'शिशुपालवध' में किया गया है।

८ बाह्य और आभ्यन्तर रत के वर्णन में संस्कृत कवियों ने कामसूत्र का आश्रय

---

१ वारणार्थपदगद्गदवाचमीर्ष्यया मुहुरपत्रपया च।
कुर्वते स्म सुदृशामनुकूलं प्रातिकूलिकतयैव युवानः॥
सीत्कृतानि मणितं करुणोक्तिः स्निग्धमुक्तमलमर्थवचांसि।
हासभूषणरवाश्च रमण्याः कामसूत्रपदतामुपजग्मुः॥

—शिशुपालवधम्, १०, ७०, ७५

२ पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः।
योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य॥

—किरातार्जुनीयम्, ९ ५०

३ पार्श्वमागमि निजं रहानिभिस्तन पूर्वमथ सा तयैकया।
क्वापि तामपि नियुज्य मायिना स्वालिमात्रसचिवा वशीकृता॥
सखिभावपि निजे निवेशितामालिभिः कुसुमशस्त्रशास्त्रवित्।
आनयद्वयस्यधिमानिव प्रियामङ्कपालिवलयेन सत्रिधम्॥
प्रागचुम्बि कलिके ह्रिया नता ता क्रमादुन्नता कपोलयोः।
तेन विस्वसितमानसा भटित्यानने स परिचुम्ब्य सिष्मिये॥

—नैषधीयचरितम्, १८, ३९ ४१

४ व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥
नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम्॥

—कुमारसम्भवम्, ८, २, ४

५ शिशुपालवधम्, १०, ६३-६४

६ वही, १०, १३८,

७, वही, १०, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०

रखा है। नैषधीयचरित, म शयनविधि[1], 'गीतगोविन्द' में विपरीत रति[2], 'मालती माधव म रागवत् रत[3] के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

९ प्रणयकलह तथा मानविमोचन का वणन कवियो ने बडे मार्मिक ढग स किया है।[4]

१० कालिदास के 'रघुवश का अग्निवण कामसूत्र-कथित नागरक के समान कामुक, भोगरत, उत्सवप्रिय, जलकेलिपटु, नृत्य गान प्रिय और मद्यलिप्सु है। उसका वणन करते हुए कालिदास ने कहा है, 'मित्रकृत्यमपदिश्य पाश्वत प्रस्थित तमनवस्थित प्रिया[5]। इस पर कामसूत्र क 'मित्रकार्यमपदिश्यान्यत्र शीत का प्रभाव है। उसी प्रकार कामसूत्र का अनुसरण करत हुए उन्होने पाणिग्रहण के समय अज क प्रकोष्ठ के रोमाचित होने और इन्दुमती की उगलियो क पसीने स भीग जाने का वणन किया है।[6]

११ कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल में पतिगृह को जानेवाली शकुन्तला को

---

१ मिश्रितोरु मिलिताधर मिथ स्वप्नवीक्षितपरस्परक्रियम्।
तौ ततो नु परिरम्भसम्पुटे पीडना विदधतौ निदद्रुत ॥
—नैषधीयचरितम्, १८, १५३

२ माराङ्क रतिकेलिसकुलरणारम्भे तया साहस।
प्राय कान्तजयाय किंचिदुपरि प्रारम्भि यत्सम्भ्रमात् ॥
निष्पन्दा जघनस्थली शिथिलता दोवल्लिसत्कम्पित।
वक्षो मीलितमक्षिपौरुषरस स्त्रीणा कुत सिध्यति ॥
—गीतगोविन्दम् १२, ६३

३ पुरश्चक्षुरागस्तदनु मनसोऽनन्यपरता।
तनुग्लानियस्य त्वयि समभवद्यत्र च तव ॥
युवा सो य प्रेयानिह सुवदने मुच जडता।
विधातुर्वैदग्ध्य विलसतु सकामोस्तु मदन ॥
—मालतीमाधवम्, ६, १५

४ एकस्मिन् शयने विपक्षरमणपीनामग्रहे मुग्धया।
सद्य कोपपराङमुख शयितया चाटूनि कुवनपि ॥
आवेगादवधीरित प्रियमस्तूष्णी स्थितस्तत्क्षणात्।
माभूत्सुप्त इवैष मन्दवलितग्रीव पुनर्वीक्षित ॥
—अमरुशतक, २२

५ रघुवश, १६ ३१

६ आसीद्वर कण्टकितप्रकोष्ठ स्विन्नाङ्गुलि सववृते कुमारी।—रघुवशम्, ७ २२

कण्व जो उपदेश देते हैं वह कामसूत्र के एकचारिणीवृत्त के अनुकूल है। कण्व कहते हैं, 'गुरुजनों की सेवा कर सीता के साथ प्रियसखी के समान व्यवहार कर, पति के अप्रिय करने पर भी रोष से उसका विरोध न कर, सबके साथ उदारता से व्यवहार कर, भोगों में गर्व न कर।' कामसूत्र के निम्नलिखित तत्त्वों का अनुवाद इसमें किया है—

—गुरुषु भृत्यवर्गेषु नायकभगिनीषु तत्पतिषु च यथार्ह प्रतिपत्ति।[1]

—श्वश्रूश्वसुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता।[2]

—नायकापचारेषु किंचित्कलुषिता नात्यर्थं निर्वदेत्।[3]

—भोगेष्वनुत्सेक।[4]

—परिजने दाक्षिण्यम्।[5]

१२ दूतीकर्म और नायकसहाय की कामविधियों का वर्णन 'शिशुपालवध', 'मालविकाग्निमित्र', 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'रत्नावली' और 'मालतीमाधव' में हुआ है।

इस प्रकार कामसूत्र के नागरकवृत्त, विवाहविधि, कन्याविस्रम्भण, बाह्य तथा आभ्यन्तर रत, दूत-दूती विमर्श आदि अंगों को संस्कृत कवियों और नाटककारों ने स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट होता है कि साहित्य और कामशास्त्र का अटूट सम्बन्ध है। साहित्य के अनुशीलन में कामसूत्र की उपादेयता भी इससे स्पष्ट हो जाती है।

फ्रायड की उपादेयता

पश्चिमी देशों में काम का वैज्ञानिक निरूपण करनेवाला कोई शास्त्र विकसित नहीं हुआ। मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थों में भी बहुत समय तक काम कला को कोई स्थान नहीं दिया गया। ईसाइयों ने काम को निषिद्ध माना और उसकी भर्त्सना की। वास्तव में ओविड के 'आर्स एमटोरिया' में स्त्री-पुरुष प्रेम को पाशवी काम प्रवृत्ति के रूप में नहीं किन्तु अभ्यास द्वारा साध्य कला के रूप में स्वीकार किया गया था। प्राचीन ग्रीस में एपिक्युरस इस कला का समर्थक था और मध्ययुग में बोकेशियो ने ओविड के ग्रन्थ को पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकृत करने का समर्थन किया था। रतिफ द ला ब्रेतोन ने जो अठारहवी शताब्दी में कामशास्त्र का आचार्य माना जाता था, ईसाई धर्म को विवाह-संस्था का शत्रु माना है और मानव को सुख से वंचित करनेवाले ईसाइयों की भर्त्सना की है। स्त्री के यथार्थ स्वरूप को बिना जाने ही विवाह करने वाले तथा काम-कला

---

१ कामसूत्र, ४ १ ५

२ वही, ४ १ ३७

३ वही, ४ १ १६

४ वही, ४ १ ३८

५ वही, ४ १ ३६

है। वह आत्मविकास और आत्मविस्तार की प्रेरणा प्रदान करती है। यद्यपि मूलत वह स्वार्थपरक तथा आत्मरत्यात्मक होती है, फिर भी उसका विकास परार्थपरकता म होता है। अत वह स्त्री पुरुष क जीवन में इकनाथता का सुख उत्पन्न करती है, पारिवारिक जीवन म स्थायित्व स्थापित करती है और समाज की धारणा को सुदृढ भित्ति पर आधिष्ठित करती है। उसका उन्नयन मनुष्य को धम साधना म प्रेरित कर आध्यात्मिक उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुंचा देता है, संस्कृति क विकास म महत्त्वपूण योग देता है। नैतिक और सामाजिक आचार सिद्धान्तो का आविष्कार उसक परिष्कार के लिए ही होता है।

किन्तु इस मूल प्रवृत्ति क लिए अभिव्यक्ति के अवसर अगर प्राप्त न हो तो मनुष्य कई विकृतियो का शिकार बन जाता है। उसकी अतृप्ति कुण्ठा, अवसाद, निराशा, और निवृत्ति की सृष्टि करती है। यहा एक तथ्य को दृष्टिपथ म रखना आवश्यक है कि इस प्रवृत्ति का पूण रूपेण उदात्तीकरण कवल इने गिने लोग ही कर सकत ह। साधारण व्यक्ति म इस प्रवृत्ति का आशिक रूप म उन्नयन सम्भव है और इस प्रक्रिया में कामावेग का एक अंश स्नायु विकृति के द्वारा अभिव्यक्ति पाता है।[1]

स्त्री और पुरुष क यौन आवगो म अन्तर होता है। यह भिन्नता कई समस्याओ की जननी है। प्राय स्त्री को यौन दृष्टि स अधिक परिमित और पुरुष की अपेक्षा अधिक उदासीन माना जाता है। उसके यौन गठन म अनेक शाखाएँ होती है और उसकी अभिव्यक्ति की पद्धतियाँ भी भिन्न होती है। पुरुष का यौन भाव काम-तृप्ति पर केन्द्रित और अधिक अहकेन्द्रित तथा गत्यात्मक होता है। स्त्री क यौन आवेग पुरुष की अपेक्षा कम केन्द्रीभूत होत है और इस कारण उसकी यौन प्रवृत्ति एक ओर अत्यधिक भोगप्रधान बन जाती है और दूसरी ओर दमनाधीन।

आश्चय नही कि समस्त सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की दिशा निर्धारित करनेवाला इस प्रबल और अनिवाय प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति को साहित्य में प्रधानता मिले। काव्य में अभिव्यक्त इस प्रवृत्ति के विभिन्न रूपो का विश्लेषण कामशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर करना आवश्यक है। हिन्दी काव्य का इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ही उसकी प्रवृत्तियो का सम्यक उद्घाटन हो सकता है। लौकिक एव धार्मिक काव्य का यह विश्लेषण एक नया आलोचनात्मक मोड उपस्थित कर सकता है। वस्तु-तत्व, काव्य रूप एव अभिव्यंजना शैली की विशेषताओ का इस दृष्टि स विवेचन हिन्दी काव्य की समीक्षा को एक नया धरातल द सकता है। इस काव्य की अप्रकाशित विशेषताएँ प्रकाशित हो सकती है।

---

१ फील्डिंग लव एण्ड द सेक्स इमोशन्ज पृ०, १०३

ऐहिकतापरक काव्य का इस दृष्टि से विवेचन निस्सन्देह सर्व-स्वीकृत हो सकता है। पर क्या अध्यात्मपरक काव्य को भी इस धरातल पर लाया जा सकता है? भक्ति-काव्य में अभिव्यक्त काम को विद्वानों ने अप्राकृत काम कहा है।[1] डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी इस दिव्य काम के बाह्य रूप को समझने के लिये कामशास्त्र का आश्रय आवश्यक मानते हैं।[2] डा० राजकुमारी मित्तल लौकिक तत्वों का विवेचन 'आध्यात्मिकता का चश्मा उतारकर करती है।[3] पर समस्या न इसके बाह्य रूप के अध्ययन के लिये कामशास्त्र का आधार ग्रहण करने से सुलझ सकती है और न आध्यात्मिकता का चश्मा उतारने से। धर्म और काम के अभिन्न सम्बन्ध को हृदयंगम कर लेने पर ही समस्या का निराकरण हो सकता है। मध्यकालीन भक्ति-काव्य का काममूलक आधार स्पष्ट और अनावृत है। काम प्रवृत्ति का धर्म भावना में महत्त्वपूर्ण योग है। मध्यकालीन धर्म-साधना में धर्म और काम का अटूट गठबन्धन हुआ है। भक्ति-सम्प्रदायों के दर्शन इसे प्रमाणित करते हैं। सन्तों और भक्तों की साधना पद्धतियाँ इसका समर्थन करती हैं। खजुराहो के कांडय महादेव, भुवनेश्वर के लिंगराज, कोणार्क के सूर्य, पुरी के जगन्नाथ और काशी के नेपाली मन्दिरों की शृंगार मूर्तियाँ इसकी पुष्टि करती हैं। अनेकों सिद्धों और सन्तों की धार्मिक अनुभूति कामोपभोगात्मक रूप में अभिव्यक्त हुई है। मश्थिल्ड आफ मैग्डेबर्ग ने अपने 'डायलाग बिटवीन लव एण्ड सोल' में कहा है, 'मेरे प्रियतम से कहो कि उसका शयनगृह सजाया गया है और मैं उसके प्रेम में पीडित हूँ। आलिंगन जितना ही प्रगाढ़ होगा, चुम्बन उतना ही मधुर होगा।[3] कतिपय ईसाई साधिकाओं ने अपने को ईसा की वधू मान रखा था। क्रिस्टिन एब्नर का तो यह अनुभूति हुई कि इसा ने उसे आलिंगन-पाश में भर लिया है और उसमें गर्भ भी स्थापित कर दिया है।[4] प्रायः कहा जाता है कि भाषा इस अपरोक्षानुभूति को व्यक्त करने में असमर्थ होती है, इस लिए उसकी अभिव्यक्ति में कामाभाव की भाषा का प्रयोग होता है। पर स्त्री इस अनुभूति को व्यक्त करते समय केवल शब्दों को ही ग्रहण नहीं करती, रति के शारीरिक व्यापारों को भी स्वीकार करती है।[5] अपने को स्त्री परिकल्पित करानेवाले भक्त अथवा सन्त की भी तो यही

---

१ डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी कृष्णभक्ति काव्य में सखीभाव, पृ० १३५

२ वही

३ डा० राजकुमारी मित्तल कृष्णभक्ति साहित्य में रीतिकाव्य परम्परा, प्राक्कथन, पृ० ३

४ फील्डिंग लव एण्ड द सेक्स इमाजेज, पृ० ३१४

५ वही, पृ० ३१८

तम और तेज उत्पन्न हुआ।[1] यह कामना मन के रेत में हुई। मन एवं रेत का यह द्वन्द्व नित्य-सम्बन्ध है। जिस रेत में भावी प्रजा का बीज होता है, वह आदि पुरुष के मन में स्थित था। 'जब यह भावी हुआ उसमें सर्वप्रथम काम का आविर्भाव हुआ।'[2] यही काम प्रजनन के उद्देश्य से पुरुष को स्त्री-समागम के लिए प्रेरित करता है। यही व्यष्टि, समष्टि तथा परमेष्ठी को सूत्र बांधता सूत्र है। इससे परिणति ब्रह्माण्ड में होती है।[3] यह काम सारे जगत् में व्याप्त है, यह नीचे है ऊपर है। यही रेत धारक एवं महिमावान है।[4] स्त्री-पुरुष में इसी का आविष्कार होता है। प्रकृतिस्थानीय भोग्या स्त्री को इस सूक्त में स्वधा और भोक्ता पुरुष को 'प्रयति' कहकर स्त्री पुरुष के मैथुन कर्म की ओर संकेत किया गया है। इस सूक्त में कामविषयक की प्रधानता देखकर पं० शंकर रामचन्द्र राजवाड़े ने इसे कामसूक्त कहा है। और उसकी व्याख्या कामशास्त्र के अनुकूल की है।[5]

हिरण्यगर्भ सूक्त का हिरण्यगर्भ इस काम का ही परिणत अवतार है। यह पहले अर्धनारीश्वर था, उभयलिंगी था। पर जब पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्व द्वारा अलग हुए तब उनमें प्रजनन की सामर्थ्य उत्पन्न हुई। इसीसे मूल स्त्री-पुरुष-युग्म आविर्भूत हुआ। जगदुत्पत्ति का मूल हेतु यही काम है, जो समस्त भावों का संचालित कर सज्ञानोत्पत्ति की प्रेरणा देता है। इसके द्वारा सद्गुण की प्राप्ति होती है क्योंकि यह क अर्थात् सुखकारी है।[6]

हमारे ऋषि सर्वव्यापी काम की अत्यन्त गरिमा जानते थे और उसका सन्तुलित उपयोग करने के पक्ष में थे। उन्होंने अनुचित कामाचार को निषिद्ध माना है। ऋग्वेद

---

१ तम आसीत्तमसा गूहळमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

—वही १० १२९, ३

२ कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—वही, १०, १२९, ४

३ शंकर रामचन्द्र, राजवाडे, नासदीयसूक्तभाष्य उत्तरार्ध चरम खण्ड,

—सन् १८७१ पृष्ठ २४ २५

४ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥ ऋग्वेद १० १२९ ५

५ 'म्हणून या सूक्ताला 'नासदीयसूक्त' असें न म्हणता 'कामसूक्त' म्हणणें योग्य होईल

—नासदीयसूक्तभाष्य, पृष्ठ ५४

६ पं० शंकर रामचन्द्र राजवाडे, नासदीयसूक्तभाष्य, उत्तरार्ध, चरम खण्ड, पृष्ठ ३५ ३७

का 'यम-यमी संवाद' इसका प्रमाण है। काममिश्रित यमी अपने भाई यम को सभोग के लिए प्रेरित करती है, पर यम भाई-बहन के समागम को अनुचित मानकर उसका प्रस्ताव अस्वीकार करता है। और उसे किसी अन्य पुरुष की ओर प्रवृत्त होने की सलाह देता है।[1]

काम विवेचन के अतिरिक्त ऋग्वेद में प्रणयिजनों के ऐसे व्यापारों का वर्णन है जिनमें काम शास्त्रीय सिद्धान्तों के बीज निहित है। वायुस्तोत्र में कहा गया है कि जैसे जार अपनी सोई हुई प्रिया को जगाता है वैसे ही पुरंधि को जाग्रत करे।[2] ऋषि सोम को युवतियों से घिरे हुए वीर से उपमित करते है।[3] प्रियतम को आकृष्ट करने के हेतु शृगार करने वाली युवति[4] उसकी मिलनोत्कण्ठा,[5] प्रियतम को तन-मन अर्पित करने की अभिलाषा[6], कामक्रीडा का रहस्य जानने की इच्छा आदि की अभिव्यक्ति कतिपय ऋचाओं में प्राप्य है।

काम के सन्तुलित उपभोग का धर्मसम्मत मार्ग विवाह है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में सूर्या के देवी विवाह की कथा द्वारा विवाह का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। इस सूक्त में प्रार्थना की गयी है कि सूर्या सुपुत्रा सुभगासीत,'। सूर्या को जो उपदेश यहा दिया गया है उसी का एक रूप कामसूत्र के 'एकचारिणीवृत्तप्रकरण' में मिलता है।[7] सवेशन विधि का वर्णन भी इसमें होता है।[8]

विवाह की सफलता पुत्रप्राप्ति में निहित है, अत प्रजानिर्माण की शक्ति से युक्त वीर्य प्राप्त कराने की[9] गर्भरक्षा और सुखप्रसव[1] की प्रार्थना ऋग्वेद में की गयी है।

---

१ अन्यमू पु त्व यम्यन्य उ त्वा परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।

—ऋग्वेद १०, १०, १४

२ प्र बोधया पुरंधि जार आ ससतीमिव। —वही, १, १३४, ३

३ अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि सवृत। प्र सोम इन्द्र सर्पतु।

—वही, ८, १७, ७

४ वही, १, १२३, १० ११

५ वही, ६, ३२, ५ तथा १० ७७, १२

६ वही १०, १८३

७ अदुर्मगली पतिलोकमाविश नो द्विपदे शं चतुष्पदे।—ऋग्वेद, १० ८५ ४३

८ तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व अस्या बीज मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्त प्रहराम शेपम्॥—वही १० ८५ ३७

९ प्रजावद्रेत आ भर।—वही, १ ६० ४

१० वही, १० १८४ १ ३

नारी का सजन प्रजोत्पत्ति के लिए किया गया है, इसलिए नपुसक पतिवाली स्त्री को भी अश्विदेवा ने हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्राप्त करा दिया।[1]

कामसूत्र के पारदारिक अधिकरण का मूल रूप भी ऋग्वेद में मिलता है। एक सूक्त में कहा गया है कि अन्य ने जिसके धन का अपहरण कर लिया है, उसकी स्त्री पर अन्य लोग हाथ उठाते हैं।[2] जार का उल्लेख भी ऋग्वेद म कतिपय मत्रो में प्राप्त होता है।[3]

साहित्य म जिस विपरीत रति और कामसूत्र में 'पुरुषायित' सज्ञा दी गयी है, उस रतिबन्ध का वर्णन ऋग्वेद में एक रूपक के द्वारा किया गया है।[4] रतिक्रीड़ा और प्रजोत्पत्ति म स्त्री-पुरुष का समान महत्त्व ऋग्वेद के वृषाकपिसूक्त म इन्द्र इन्द्राणी सवाद के द्वारा सूचित किया गया है।[5] कामसूत्र तथा साहित्य म स्वकीया और परकीया नायिकाओं के साथ वेश्या को भी नायिका माना गया है। वेश्या का उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होते ह।[6] ऋग्वेदीय अगस्त्यसूक्त कामशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसम अगस्त्य और लोपामुद्रा के सहवास का वर्णन है जिससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने पर ही पुरुष वीर्यवान् बनता है। यहा समागम का प्रस्ताव स्त्री करती है। इसम आश्चर्य नही क्योंकि प्रथम समय तक समागम का वर स्त्री ने पाया है।[7]

अथर्ववेद—ऋग्वेदीय नासदीयसूक्त के 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' को स्वीकार कर अथर्ववेद म ऋषि कहते है कामो जज्ञे प्रथमो। काम ही देवो तथा मर्त्यों का अग्रज है, वही ज्येष्ठ है वह आकाश, पृथ्वी, जल तथा अग्नि से भी व्यापक है। ऋषि इस ज्येष्ठ काम की वदना करते ह।[8] काम बली है, पर हवि, जो आत्मार्पण का प्रतीक है के द्वारा उसे परिष्कृत किया जा सकता है। यह शक्तिसम्पन्न काम ही भाग्यविधाता है। उसी के प्रभाव से मनुष्य दरिद्रता निःसन्तानता आदि सकटो पर विजय पा सकता है। वह ऐसा शम धारण करता है कि शत्रु उस पर प्रहार करने म असमर्थ हो जाते है। यहा

१ श्रुत तच्छासुखि वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमाश्विनावन्तम्। —वही १ ११६ १३
२ अन्य जाया परिमृशन्ति अस्य अगृधत वेदने वाली अक्ष।—वही १० ३४ ४
३ वही, १ ६६ ४, ६९ १' १३४ ३, ६ ८८ ८५,' ९ ३८ ४,' १० ३ ३
४ वक्ष्यन्ति वेदा गनीगन्ति कर्ण प्रिय सखाय परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वज्ज्या इय समने पारयन्ती॥ —वही ६ ७५ ३
५ ऋग्वेद १० ८६ १६
६ वही १ ७१ १, १ १६७ ४
७ काममाविजनितो सम्भवाम। —तैत्तिरीय सहिता' २ ५ १ ४ ५
८ यास्ते शिवास्तन्व काम भद्रा याभि सत्य भवति यद्वृणीषे। —अथर्ववेद, ९ २ २५

मन के सकल्प को काम माना गया है। यह 'वाजी काम' कामसूत्र के काम से अधिक व्यापक अर्थ सूचित करता है।

कामाग्नि और कामशर का यथार्थ वर्णन अथर्ववेद में किया गया है। काम पुरुष रेषण अर्थात् पुरुष का विनाश करने वाला है।[1] मनुष्य के तन-मन को जलाने वाली कामाग्नि शक्तिमती और अदम्य है।[2] इस काम का शर उत्तुद अर्थात् पीड़ा पहुँचाने वाला है। इसमें मानसिक दुःख के पख लगे हुए हैं, इसकी नोक कामविकार के शल्य से बनी हुई है। इसकी डडी सकल्प की है। इस कामबाण से पत्नी के हृदय को विदध करते हुए पुरुष कहता है, 'हे नारि, मै तुझे इस बाण से विदध करता हूँ। तू अपने शयन को छोड़ मेरे पास आ। हे प्रियवादिनि, अनुव्रते, तू केवल मेरी कामना कर।'[3]

जिसके मन को स्मर उन्माद से भर देता है, वह धर्म को भूल जाता है, कर्तव्या कर्तव्य का निश्चय करने में असमर्थ हो जाता है। अतः ऋषि धर्मसम्मत काम को उचित मात्रा में स्वीकार करने तथा धर्मविरोधी काम को त्यागने का परामर्श देते हैं, अन्यथा मनुष्य कामजनित आधियों से शोकाकुल रहता है।[4]

अथर्ववेद के कई मत्रों में स्त्री का प्रेम प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा व्यक्त हुई है। एक मत्र में पुरुष कहता है, 'मै मधु से मधुर हूँ। जैसे भौंरा मधु-सनी डलिया को पाने के लिए लालायित रहता है, तू मेरी कामना कर। मैंने तुझे चिपकी हुई ईख की तरह घेर रखा है ताकि तू प्रतिकूल न हो।'[5] यह कामसूत्र का कन्याविस्रम्भण है।

पति-पत्नी के निश्छल प्रेम का वर्णन भी अथर्ववेद में प्राप्त होता है। एक मत्र में कहा गया है, 'यह कन्या पति प्राप्ति की इच्छा से यहाँ आई है और स्त्री की

---

१ शान्तो अग्नि क्रव्याच्छान्त पुरुषरेषण ।—अथर्ववेद, ३ २१ ९

२ यो धीरः शक्र परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो हुतमस्त्वेतत् । —वही, ३ २१ ४

३ उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथा शयने स्वे ।
इषु कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषु सकल्पकुल्मलाम् ।
ता सुसनता कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥
या प्लीहान शोषयति कामस्येषु सुसनता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥
शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्यामि सर्प मा ।
मृदुर्निमन्यु केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ —वही, ३, २५, १ ४

४ वही, ६, १३२, १

५ वही, १, ३४

इच्छा म मैं आया हूँ, जम हिनहिनाता हुआ अश्व ।'[1] उपर्युक्त उपमा से यह सूचित होता है कि पुरुष वाजीकरणसिद्ध हो, अश्व की तरह वीयवान् और बलवान् हो। इस सूक्त में यह भी कहा गया है कि पुरुष स्त्री क साथ कठोरता न बरते, जसे वात तृण को मथता है वैसे ही वह स्त्री क मन को निश्छल व्यवहार म उत्तेजित करे।[2] वात्स्यायन ने इसी कारण कहा है, 'कुसुमसधर्माणो हि योषित ।'

पति की आलिंगन लिप्सा और रत्युत्कण्ठा की अभिव्यक्ति अथववेद म हुई है।[3] पर अथववेद केवल शारीरिक मिलन को सुखदायी नहीं मानता उसम मानसिक एकता की महत्ता बार बार स्पष्ट की गई है।[4] पुरुष पर एकाधिकार प्राप्त करने तथा उस वशीभूत करने की स्त्री की अभिलाषा भी कुछ मन्त्रो में प्रकट हुई है। वह चाहती है कि घर म उसी का वचन निर्णायक हो और पुरुष का सभा म। उसकी कामना है कि पुरुष उसी का होकर रहे किसी अन्य स्त्री का नामोच्चारण भी न करे।[5] मरुतो, वायु तथा अग्नि से वह कहती है कि पुरुष को काममोहित करें।[6]

कामसूत्र के सुभगकरण तथा वाजीकरण का मूलस्रोत इस वेद के मन्त्रो में प्राप्त होता है। इसम कहा गया है कि सुभगकरणी सहस्रपर्णी के सेवन म स्त्री-पुरुष इतने कामपीडित होते ह कि वियोग-व्यथा सह नहा सकते। जसे नकुल साँप को खण्ड-खण्ड कर फिर उन्हे जोडता है, वैसे ही यह ओषधि टूटे हुए काम सम्बन्ध को पुन जोडती है।[7]

---

१ एयमग पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्व कनिक्रदद्यथा भगेनाह सहागमम्॥

२ यथद भूम्या अधि तृण वातो मथयति। —अथववेद, २, ३०, ५
एवा मथ्नामि ते मनो॥

—वही, २, ३०,१

३ यथा वृक्ष लिबुजा समन्त परिषस्वजे।
एवा परिष्वजस्व मा यथा कामिन्यसो यथा मन्नापगा अस ॥

—वही, ६, ८,१

४ यथाय वाहो अश्विना समैति स च वतत।
एवा मामभि त मन समैतु स च वतताम्॥

—वही, ६,१०,२,१

५ अह वदामि नेत्त्व सभायामह त्व वदाममेदस्त्व केवलो नान्यासा कीतयाश्चन।

—वही, ७,३८,४

६ वही, ६,१३०,१ ४

७ वही, ६,१३९,५

कामी पुरुष अपनी प्रेमिका की प्राप्ति के लिए कुत्तो, नयनस्थित पुष्पगधा नारियो और जागने वाले सभी कुटुम्बियो को मत्रशक्ति के द्वारा निद्राधीन करना चाहता है।[1] इस सूक्त म स्त्रियो के लिए प्रयुक्त 'पुष्पगधा' विशेषण महत्त्वपूर्ण है।[2] कामशास्त्रीय नायिका भेदो म स्त्री देह की गध को वर्गीकरण का एक आधार माना गया है।

गृहस्थाश्रम की महत्ता अथर्ववेद स्वीकार करता है। पवित्र सहधर्मचारिणी के साथ गृहस्थाश्रम के कर्तव्यो का निर्वाह करने पर मनुष्य को कामना पूर्ति का आनन्द मिलता है और वह शुभ कर्मों के द्वारा श्रेष्ठ लोक की प्राप्ति भी करता है। पुरुष कन्या के तेज और सौन्दर्य को उसी प्रकार स्वीकार करता है जिस प्रकार लोग फूलो की माला को। पुरुष के प्रस्ताव को स्वीकार कर कन्या के माँ-बाप अपनी कन्या उसे समर्पित करते है। वे ज्ञानी पुरुष के भाग्य से अपनी कन्या का भाग्य बाँध देते है।[3] अथर्ववेद म वधू-वर के गुण वर्णित है। वधू सुन्दरी तथा वर्चस्वती हो, कुल-मर्यादा की रक्षा करने वाली हो, पति के भाग्य की वृद्धि करने वाली हो। वर धर्मानुकूल आचरण करने वाला, बलवान् तथा ज्ञानी हो। इसम सूचित किया गया है कि 'पुष्पवती' कन्या ही विवाह-योग्य होती है। कामसूत्र म प्रयुक्त कन्या शब्द इस दृष्टि से विचारणीय है। एक अन्य सूक्त म कहा गया है कि कन्या जब किसी सहेली के विवाहोत्सव म सम्मिलित होती है तब उसके मन म अपने विवाह के सम्बन्ध म भाव जाग्रत होते है।[4] पुत्रप्राप्ति म विवाह की सफलता निहित है, अत नारी का 'आत्मन्वती उर्वरा' होना आवश्यक है। स्त्री-पुरुष सहवास का इसके अतिरिक्त आनन्द भी एक महत्त्वपूर्ण फल है।[5] दम्पति का उन्नयन परस्पर सामजस्य और शुभाचरण पर निर्भर करता है।[6]

---

१ वही, ४५

२ वही, ४,५,३

३ भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक पितृष्वास्ताम्॥

—अथर्ववेद, १,१४,१

४ अयमग्निमयम ... यामा समन ... मती।
अगो ... वयमजस्या अया समनमायाति॥

—वही, ६,६०,२

५ आ मोहोरमुप धत्स्व हस्त परिष्वजस्व जाया सुमनस्यमान।
प्रजा कृण्वा थामिह मोदमाना दीर्घ वामायु सविता कृणोतु॥

—वही, १४,२,३९

६ स व पृच्यन्ता तन्व स मनासि समुव्रता।

—वही, ६,७४ १

इस वर्ग में सौन्दर्यवृद्धि, सौभाग्यवृद्धि, वशीकरण और वाजीकरण के प्रयोगों का विशद वर्णन मिलता है। रुई, नितत्नी, रेवती, अरुन्धति, जीवन्ता आदि ओषधियों का उल्लेख इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। स्त्री-पुरुष सहवास का प्रत्यक्ष वर्णन भी इसमें प्राप्य है।[1]

यजुर्वेद—अश्वमेध यज्ञ के सन्दर्भ में राजमहिषी का मेध्य अश्व के साथ सम्भोग कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में और शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में वर्णित है। यह एक विचित्र रीति है, जो प्रतीकात्मक है। अश्व वेग, बल तथा तेज का प्रतीक है। वास्तव में अश्वमेध यज्ञ का मूल उद्देश्य पुत्रैषणा की पूर्ति है पर कालान्तर से यह विचार प्रसृत हुआ कि सौ अश्वमेध करने पर राजा इन्द्रपद का अधिकारी बन जाता है। अतः पुत्र कामना की पूर्ति का मूल उद्देश्य प्रतीकात्मक रूप में इस महिष्याश्वसंयोग के द्वारा अभिव्यक्त हुआ।[2] दोनों संहिताओं में यह प्रसंग नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके पात्र हैं—राजमहिषी तीन और रानियाँ, अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता तथा अश्व। कामशास्त्र की दृष्टि से यह नाटक महत्त्वपूर्ण है। राजा की प्रथम परिणीता महिषी का अश्व के साथ समरत स्पष्ट करता है कि वह हस्तिनी नायिका है। इस नाटक के प्रथम प्रवेश की रानी कुमारी 'मृगी' है और अध्वर्यु 'शश' क्योंकि इसमें दोनों के लघु उपस्थों का निर्देश है।[3] सानुचरी महिषी तथा ब्रह्मा के उपस्थ वर्णन से सूचित होता है कि वे क्रमशः 'वडवा' और 'वृष' हैं।[4] तीसरे प्रवेश की वावाता 'प्रौढ़ा' है और उद्गाता

---

१ वही, १४,२,३६

२ पं० शंकर रामचन्द्र राजवाडे, नासदीयसूक्तभाष्य, उत्तरार्ध,
दूसरा खण्ड, पृष्ठ १६२६

३ यकासकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका।
यकोऽसकौ शकुन्तक आहलगिति वञ्चति।
विवक्षत इव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभिभाषथाः॥
—वाजसनेयि माध्यन्दिन 'शुक्लयजुर्वेद-संहिता' २३ २२ २३, पृष्ठ १०२

४ माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत्।
माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः।
विवक्षत इव ते मुखं ब्रह्मन् मा त्वं वदो बहु॥
—वही, २४ २५

'मदवेग ।'[1] चाथे प्रवेश की परिवृत्ता अविन्ध्ययोनिका 'मुग्धा' है और होता 'चण्डवेग' ।[2] पचम प्रवेश की पालागली 'परदारा' है और क्षत्ता 'जार' ।[3] इस प्रकार कामसूत्रवर्णित नायक-नायिका भेदो के उदाहरण यहाँ मिलते है ।

कामसूत्रकथित रत भेदो की भूमिका यहाँ मिलती है । समरत के तीन रूप दसम प्राप्य हैं—१ हस्तिनी महिषी का अश्व के साथ सहवास, २ प्रथम प्रवेश में मृगी शश का सहवास, और ३ द्वितीय प्रवेश में वडवा वृष का सहवास । चौथे प्रवेश की परिवृत्ता मदवेग और नायक चडवेग है, अत यह उच्चरत है ।

ब्राह्मण तथा अन्य ग्रंथ—जार का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है । वरुण प्रघास इष्टि के प्रसग में प्रतिप्रस्थाता यजमान-पत्नी से पूछता है, 'केन चरसीति' ।[4] यहाँ स्पष्ट किया गया है कि यजमान-पत्नी अगर परपुरुष-गमन से पतित हो चुकी हो तो उसका यज्ञ कार्य निर्विघ्नता से सम्पन्न नही होता, पर अगर वह अपना पातक स्वीकार करती है तो उसका हृदय पवित्र हो जाता है । उपपति और परकीया के प्रेम-सम्बन्ध का उल्लेख अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है ।[5] लाट्यायन श्रौतसूत्र में सोमयज्ञ की महाव्रत

---

१ ऊर्ध्वमिनामुच्छ्रापय गिरौ भार हरन्निव ।
अथास्यै मध्यमेधता शीते वाते पुनन्निव ।
ऊर्ध्वमिनमुच्छ्रयतागिरौ भार हरन्निव ।
अथास्य मध्यमेजतु शीते वाते पुनन्निव ॥
—वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद सहिता' २, २२ २३, पृष्ठ २६ २७

२ यदस्या अहुभेद्या कृधु स्थूलमुपातसत् ।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ।
यद्देवासो ललामगु प्रविष्टामिनमाविषु ।
सक्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ —वही, २८ २९

३ यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्ट पशु मन्यते ।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ।
यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्ट बहु मन्यते ।
शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनुमन्यते ॥ —वही, ३० ३१

४ शतपथ ब्राह्मण, द्वितीय काण्ड, ५, २, २०

५ 'इसके अनुसार अपने पति के अतिरिक्त उपपति रखने वाली स्त्री अज पचदोग' क्रिया द्वारा वियोग से बच सकती है और यदि उसका उपपति भी इस क्रिया को करता है तो मृत्यु के बाद दोनो को एक ही लोक प्राप्त होता है । (९, ५ २७ २८) इतना ही नही स्वर्ग प्राप्ति के लिए किए जाने वाले कुछ साधना का भी उल्लेख है जिन्ह विवाहिता केवल अपने उपपति के साथ ही कर सकती है ।
—डा० मिथिलेश कान्ति, हिंदी भक्ति-शृगार का स्वरूप, १९६३, पृष्ठ ६

नामक विधि के अन्तर्गत संभोग का चित्र अंकित किया गया है।[1] शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण के कतिपय वचनों से संभोग की आध्यात्मिकता सूचित होती है। 'सद' को देखना शतपथ में संभोग देखने के समान माना गया है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत आग्नि शास्त्र के प्रथम पद 'प्रवो देवाय अग्नये' की उच्चारण विधि से सहवास क्रिया सूचित होती है। देवियों को आहुति देने से पहले होता सूर्य मंत्र का पाठ करता है और सूर्य का उनसे समागम करा देता है। उसी प्रकार छन्दोमास यज्ञ में त्रिष्टुभ और जगती छन्दों का महोच्चारण मैथुन का प्रतीक माना गया है।[3]

शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों में दिन में दो बार भोजन करने का आदेश दिया गया है। वात्स्यायन ने इसी सिद्धान्त को स्वीकृति दी है।[4]

उपनिषदों मे काम तत्त्व

जगदुत्पत्ति तथा प्रजोत्पत्ति का मूलकारण है काम। उपनिषदों में कहा गया है कि उस एकमेवाद्वितीय आदिपुरुष की अनेक रूपों में अभिव्यक्त होने की कामना के रूप में यह प्रकट होता है। *उस आदिपुरुष के तपोबल से सिद्ध सुकृत ही रस है जो ब्रह्मानन्द की सृष्टि करता है।*[5] यह काम ही प्रजा का विधाता है प्रजापति है। प्रजोत्पत्ति के लिए वह मिथुन की सृष्टि करता है।[7] बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है कि आत्मन् के रूप में विद्यमान पुरुष में पति और जाया आबद्ध थे। आत्मन् के विभाजित होने पर पति एवं पत्नी का उद्भव हुआ। अतः पति और पत्नी एक ही 'स्व' के दो रूप हैं।[8]

---

१ लाट्यायन श्रौतसूत्र, प्रपाठक, कण्डिका ३, सूत्र ९, १०, ११ १७

२ हिन्दी भक्ति-शृंगार का स्वरूप, पृष्ठ ६७

३ वही

४ तस्माद् द्विरह्नो मनुष्येभ्य उपह्रियते।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण, १, ४, ९, शतपथ ब्रा० २, २२, ६

५ सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। —तैत्तिरीयोपनिषद, वल्ली २, अनुवाक ६

६ यद्वैतत्सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।

—वही वल्ली २, अनु० ७

७ प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।

—प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न १, ४

८ स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नीश्चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय १, ब्राह्मण ४, ३

पति के स्त्री-सहवास का उद्देश्य है आत्मजनन। पुरुष अपना रेत स्त्री के गर्भाशय में सिंचित करता है, तब उस गर्भ के रूप में उत्पन्न करता है। यह उसका प्रथम जन्म है, पर जब वह बालक के रूप में उत्पन्न होता है तब उसका दूसरा जन्म होता है। पुरुष का रेत स्त्री का आत्मभूत हो जाता है। अतः स्त्री गर्भ का पोषण कर पति द्वारा पोषण के योग्य बनती है। इसीसे प्रजनन-परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में सन्तानोत्पत्ति ही स्त्री-पुरुष सहवास का प्रयोजन माना गया है। उसका कथन है कि विधिपूर्वक सम्प्रयोग करने पर श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति होती है। वास्तव में माता पूर्वरूप है, पिता उत्तररूप और उनका समागम से उत्पन्न प्रजा सन्धि है।[1]

वृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्मानन्द की प्रतीति को रत्यानन्द की अनुभूति से उपमित किया गया है। जैसे प्रिय स्त्री के साथ रतिक्रीडा में रत आनन्दविभोर पुरुष को न बाह्य का ज्ञान होता है न अन्तर का उसी प्रकार आत्मा से एकता स्थापित करने वाले प्राज्ञ को भी बाह्यान्तर का ज्ञान नहीं होता।[2] यद्यपि स्त्री-पुरुष सहवास सुख-दुःखात्मक है फिर भी सुरतकालीन प्रहणन-सीत्कार, नखच्छेद्य आदि के दुःखद उपचारों की परिणति रत्यानन्द में होती है। केवल जननेन्द्रियाँ ही इस सुख का अनुभव नहीं करतीं, अपितु स्त्री-पुरुष की पंचेन्द्रियों के साथ मन भी इसका अनुभव करता है।

इसी उपनिषद् में कहा गया है कि पुरुषाग्नि में देवगण जिस अन्न का हवन करते हैं, उससे रेत बनता है। स्त्रीरूपिणी अग्नि में देवता जिस रेत का हवन करते हैं, उससे पुरुष की उत्पत्ति होती है। स्त्री-पुरुष सहवास को प्रतीकात्मक रूप में अंकित करते हुए यहाँ कहा गया है कि स्त्री ही अग्नि है, उसका उपस्थ समिध है, उसके लोम धूम हैं, योनि अर्चि है, मैथुनव्यापार अंगार है, आनन्द विस्फुलिंग है। सहवास के दोनों प्रयोजन—रतिसुख और प्रजोत्पत्ति—यहाँ उल्लिखित हैं।[3] इसी में आगे कहा गया है कि पृथ्वी भूतों का रस है, जल पृथ्वी का, ओषधि जल का, पुष्प ओषधि का, फल पुष्पों का,

---

१ अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली १, ३

२ तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम् एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।

—वृहदारण्यकोपनिषद्, ६, २, १२

३ योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः सम्भवति।

—वही, ६, २, १३

पुरुष फलो का और शुक्र पुष्प का। प्रजापति ने इसे स्थापित करने के लिए स्त्री की उत्पत्ति की और उसकी अधोपासना की।[1] यह एक यज्ञ है। वाजपेय यज्ञ करने पर यजमान जिस पुण्यलोक की प्राप्ति करता है, उसी की प्राप्ति सम्भोग यज्ञ करने वाले को भी होती है। कई ब्रह्मबन्धु इस मैथुन विधान को न जानने के कारण परलोक से पतित हो जाते है।[2] जब पति पत्नी कामोत्तेजित होकर सहवास करते है तब दोनों ऐश्वर्य एव यश की प्राप्ति करते है। इस उपनिषद् म सम्भोग का चित्र है,[3] गर्भनिरोध[4] पत्नी के जार को अभिशप्त कर निरोद्रय बनाने का उपाय वर्णित है[5] और मनोवांछित सतति को प्राप्ति के विधान भी दिये हैं।[6] अत कामविज्ञान की दृष्टि से यह उपनिषद महत्वपूर्ण है।

छान्दोग्योपनिषद् की वामदेव्योपासना में मैथुन का वर्णन इस प्रकार किया गया है पुरुष का सकेत ही हिंकार है, ज्ञापन ही प्रस्ताव है, स्त्री के साथ शयन ही उद्गीथ है', सहवास म जो समय व्यतीत करता है, वही निधन है, उसकी समाप्ति भी निधन है, *यही वामदेव्य साम मिथुन म व्याप्त है जो पुरुष इस समझकर समागम करता है वह* आयु प्रजा, पशु, तथा कीर्ति प्राप्त करता है। वह स्त्रियो म स किसी को न त्यागे, यही व्रत है।[7] इसमें कामात और सभोग की प्रार्थना करने वाली परदारा के साथ सभोग निषिद्ध नहा माना गया है।

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद, ६, ४, १२

२ वही, ६, ४, ३-४

३ स यामिच्छेत् कामयेतमेति तस्यामर्थनिष्ठाय मुखेन मुख सधयोपस्थमस्या अभिमश्य जपेदङ्गादङ्गात् सम्भवति हृदयादधिजायसे।

—बृहदारण्यकोपनिषद् ६, ४, ९

४ वही, ६, ४ १०

५ वही,

६ वही ६, ४, १४ १७

७ उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञापयते स प्रस्ताव स्त्रिया सह शेते स उद्गीथ प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहार काल गच्छति तन्निधन पार गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्य मिथुने प्रोत स य एवमेतद्वामदेव्य मिथुने प्रोत वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न काचन परिहरेत्तद्व्रतम्।

—छान्दोग्योपनिषद, २, १३, १ २

इस प्रकार उपनिषदो में कामशास्त्र से सम्बन्धित निम्नलिखित विषयो का विवचन मिलता है—

१ प्रजोत्पत्ति के लिए समागम
२ रत्यानन्द
३ सहवास विधि
४ सभोग विनान की आवश्यकता
५ परकीया रति।

धर्मसूत्रो और गृह्यसूत्रो मे कामतत्त्व

विवाह एक धार्मिक सस्कार है, मैथुन की सुविधा के लिए की गयी सुलह मात्र नहीं। वह एक यज्ञ है, जिसका अर्थ है दो शरीरो, हृदयो और आत्माओ का मिलन। अत विवाह प्रस्ताव मे प्रजोत्पत्ति और प्रजा पालन तक की सब विधियो का धार्मिक स्तर पर विवचन इन सूत्रो में किया गया है। सवर्णा, अनन्यपूर्वा तथा न्यूनवयस्का कन्या के साथ विवाह करने का विधान सूत्रकारो ने दिया है।[1] वात्स्यायन भी यही परामर्श देते है। विवाह के आठ भेदो—ब्राह्म, आर्ष, दैव, प्राजापत्य, गाधर्व, असुर, राक्षस तथा पैशाच—का विवेचन वात्स्यायन ने इन्ही के आधार पर किया है।

सूत्रो म वर तथा वधू के जो लक्षण दिए हैं, कामसूत्रकार ने प्राय उन्ही को स्वीकार किया है। उच्च कुल, सच्चरित्र, शुभ गुण, बुद्धि और स्वास्थ्य वर के लक्षण है।[2] वर तथा वधू का मातृकुल और पितृकुल दस पीढियो से विद्या, पुण्यकर्म, तपस्या आदि से सम्पन्न हो।[3] कन्या बुद्धिमती, रूपवती, सदाचारिणी एव अरोगिणी हो।[4]

---

१ गृहस्थ सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम्।

—गौतम धर्मसूत्र, ४, १

अस्पृष्टमैथुनामवरवयसीं सदृशीं भार्यां विन्देत।

—वसिष्ठ धर्मसूत्र, ८, १

२ बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्।

—आश्वलायन गृह्यसूत्र, १, ५, २

—द्रष्टव्य आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १, ३, १९

३ कुल अग्रे परीक्षेत ये मातृत पितृतश्चेति यथोक्त पुरस्तात्।

—वही, १, ५, १

४ बुद्धिरूपशीललक्षणसम्पन्नामरोगिणीमुपयच्छेत।

—वही, १, ५, ३

निम्नोक्त दोषों से युक्त कन्याएँ परिवर्जनीय हैं[1]

१ सोती हुई, रोने वाली, तथा ऐसी कन्या जिसने घर छोड़ा हो।

२ पूर्वदत्ता, सम्बन्धियों द्वारा रक्षिता, कुटिलेक्षणा, ऋषभसदृशा, कुब्जा, विकृता, गंजे सिरवाली, दर्दुर चर्म सा जिसका चर्म हो, अन्य परिवार में बसने वाली, विषयासक्ता, जिसकी अनेकों सहेलियाँ हों, जिसकी अनुजा सुन्दर हो और जिसकी उम्र लगभग वर की उम्र के बराबर हो।

३ नक्षत्र, नदी या वृक्ष के नाम वाली।

४ जिसके नाम का उपान्त्य वर्ण र या ल हो।

सूत्रकारों का परामर्श है कि विद्याध्ययन के पश्चात् युवक गुरु की अनुमति से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। वर के सम्बन्धी या मित्र वधूपिता के घर विवाह का प्रस्ताव लेकर जाएँ।[2] कामसूत्र में भी यही विधान दिया गया है।[3] विवाह की विधियों का सूत्रकारों ने सांगोपांग विवरण दिया है। कन्या को ओषधियों से युक्त सुगंधित जल से नहलाते हैं। कन्या की सहेली उसके सिर पर तीन बार सिंचन करती है, जिससे कन्या की देह उत्तम सुरा से भीग जाती है। इस समय मन्त्रब्राह्मण के इस मन्त्र का पाठ किया जाता है—'हे काम, मैं तेरा नाम जानती हूँ, तू नाम से ही मत्त है।[4] फिर कन्या को नया अधौत या नवरंजित वस्त्र पहनाया जाता है। सांख्यायन गृह्यसूत्र में आचार्य के हविर्दान के बाद चार या आठ सधवा स्त्रियों के नृत्य का भी विधान किया गया है।[5] वधूपिता कन्या को अलंकारों से विभूषित कर वर के हाथों सौंपता है। इसके पश्चात् पाणिग्रहण, अश्मारोहण, सप्तपदी आदि विधियाँ वैदिक मन्त्रों के पाठ के साथ सम्पन्न होती है। आचार्य, वर तथा वधू ऋचाओं का यथोचित पाठ करते हैं। वधू कहती है, 'मेरा

---

१ दत्ता गुप्ता घोनामृषीभा विनता विकटा मुण्डा मण्डूपिका सांकरिकी राता मित्रा स्वनुजा वर्षकरी च वर्जयेत्।
नक्षत्रनामा नदीनामा वृक्षनामाश्च गर्हिता।
सर्वाश्च रेफलकारोपान्ता वरणे परिवर्जयेत्॥
—आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १, ३, १०-१३

२ सांख्यायन गृह्यसूत्र, १ ६ १ ६ तथा आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, २ ४ १।

३ तस्या वरणे मातापितरौ सबंधिनश्च प्रयतेरन्।
मित्राणि च गृहीतवाक्यान्युभयसबद्धानि॥
—कामसूत्र, ३, १ ४

४ गोभिल गृह्यसूत्र, २, १ १०

५ सांख्यायन गृह्यसूत्र, १, ११, ५

पति चिरजीवी हो, मै सन्तानवती बनूँ।' वर कहता है, 'यह मै हूँ, वह तू है। मैं द्यौ हूँ, तू पृथ्वी है।'[1] सप्तपदी के बाद वर वधू के हृदय को छूकर कहता है, 'मैं तेरे हृदय को अपने म समा लेता हूँ। तेरा मन मेरा अनुगामी बने। प्रजापति तुझे मुझसे मिलाए।[2] पुत्रप्राप्ति की कामना से पुरुष स्त्री से कहता है, 'आएँ, हम विवाहबद्ध हो जाएँ, अपने गुन को परस्पर मिलाएँ और सन्तान की उत्पत्ति करें।'[3]

विवाह के बाद पति पत्नी धर्मसूत्रोक्त नियमो के अनुसार समागम करें। गृह्यसूत्रो ने विवाहानन्तर की तीन रात्रियाँ सहवास के लिए निषिद्ध मानी ह। केवल सहवास के समय पति-पत्नी एक शय्या पर सोएँ, सहवास के बाद वे स्नान कर और अलग-अलग बिछौनो पर सोएँ।[4] सूत्रकारो का कथन है कि विवाह के बाद तीन रात्रि वे नमकीन चीजें न खाएँ, अलकार न धारण करें और जमीन पर सोएँ।[5] हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र में पति पत्नी के समागम का वर्णन मिलता है। पति पत्नी से कहता है, हमारी आत्माएँ परस्पर-सगत ह, हृदय एक दूसर स मिले हुए ह, हमारी नाभियाँ और त्वचाएँ भी मिली हुई है। मै तुझे ऐसी प्रेम ग्रथि स बाँध लूँ, जो कभी नही छूटेगी।'[6] फिर वह पत्नी का आलिंगन करता है और कहता है, 'तू मुझमे एकनिष्ठ रह, मेरी सगिनी बन।[7] उसके बाद पत्नी के मुख का चुम्बन करता है और कहता है, 'हे मधु, मेरी रसना का शब्द मधु है, मेरे मुख म मधु ह, मेरी दन्तावली पर सामजस्य विराजमान है।[8] कामसूत्र के कन्याविस्रम्भण और रतारम्भावसानिक प्रकरणो म इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है।

धर्मसूत्रो ने परपुरुषगमन तथा परस्त्रीगमन की निन्दा की है। स्त्री के मानसिक

---

१ आश्वलायन गृह्यसूत्र, १, ७, १२

२ पारस्कर गृह्यसूत्र, १, ८, ८

३ वही, १, ६, ३

४ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, ४, २५, १

५ त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयायाता संवत्सर न मिथुनमुपेयाता द्वादश रात्रंत्रिरात्रमन्तत ।

—पारस्कर गृह्यसूत्र १, ८

द्रष्टव्य, सगतयोस्त्रिरात्रमध शय्या ब्रह्मचर्य क्षारलवणवर्जमाहार

—कामसूत्र, ३, १, १

६ हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, ६ २४, ४

७ वही, ६, २४, ५

८ वही, ६, २४, ६

व्यभिचार को भी वसिष्ठ दण्डनीय मानते है। परपुरुष के साथ वार्तालाप तक निषिद्ध माना गया है। वसिष्ठ कहते है कि पति को धोखा देने वाली स्त्री शृगाली बनती है।[1] वात्स्यायन परदारा को नायिका मानते है, पर स्पष्ट रूप से कहते है कि रागमात्र से परस्त्रीगमन न करें।[2] कामसूत्रकार आपस्तम्ब धर्मसूत्र के इस सिद्धान्त का अनुसरण करते है कि धर्मसम्मत भोगो से ही मनुष्य दोनो लोको की प्राप्ति करता है।[3]

मनुस्मृति मे कामतत्व

मनुस्मृति एक महान् ऋषि की व्यवसायात्मक और सामजस्यविधायक बुद्धि की सूझ है। वात्स्यायन ने कामशास्त्र को धर्मशास्त्र के अविरोधी मानकर स्मृति सिद्धान्ता को स्वीकार किया है। कामसूत्रीय पुरुषार्थविचार पर धर्मशास्त्र ही का प्रभाव है। मनुष्य चित्त को उर्ध्वगामी बनाने और समाजहित की परिवृद्धि करने का कार्य पुरुषार्थ के सम्पादन से होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की यथोचित सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास नामक चार आश्रमो का विधान है। मनु सुमुच्चय सम्प्रदाय का अनुसरण कर इनका क्रमश अवलम्ब ही श्रेयस्कर मानते है। वे गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ गौरव प्रदान करते है। क्योकि इसमें चारो पुरुषार्थों की सिद्धि युगपत् हो सकती है।[4] वात्स्यायन ने परस्परानुपघातक त्रिवर्ग के सेवन का जो उपदेश[5] दिया है वह मनुप्रणीत धर्मशास्त्र के सर्वथा अनुकूल है।[6]

मनु काम को सर्वथा हेय नही मानते, मनुष्यजाति की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने की दृष्टि से इसका महत्त्व वे स्वीकार करते है। पर विवाह के द्वारा ही

---

१ वसिष्ठ धर्मसूत्र, २१, ७, १४

२ इति साहसिक्य न केवल रागादेव।

—कामसूत्र, १, ५, २१

३ भोक्ता च धर्माविरुद्धान् भोगान्। एवमुभौ लोकावभिजयति।

—आपस्तम्ब धर्मसूत्र २, ८, २०, २२ २३

४ सर्वेषामपि चैतेषा वेदस्मृतिविधानत।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठ स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥

—मनुस्मृति, ६ ८९

५ शतायुर्वै पुरुषो विभज्य काल अन्योन्यानुबद्ध परस्परस्यानुपघातक त्रिवर्ग सेवेत।

—कामसूत्र, १,२,१

६ धर्मार्थावुच्यते श्रेय कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थिति॥

—मनुस्मृति २,२२४

धर्मानुकूल कामोपभोग सम्भव है। विवाह के ब्राह्मादि भेदो का विवरण देकर मनु कहते कि ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण, आर्ष, दैव और प्राजापत्य विवाह धर्म्य है तो क्षत्रिय के लिए राक्षस और विट्शूद्रो के लिए आसुर, गान्धर्व एव पैशाच।[1] वात्स्यायन ने मनु के सिद्धान्त का अनुसरण किया है पर गान्धर्व की प्रशसा की है।[2]

मनु ने असपिण्ड और असगोत्र सवर्णा कन्या को ही द्विजातीया के लिए विवाह योग्य माना है। उनके अनुसार विवाहयोग्य कन्या के निम्नलिखित गुण है

१ अव्यग शरीर, २ सौम्य नाम, ३ हस या गज के समान गति, ४ छोटे लोम और दशन ५ मृदु अग। निम्नलिखित कन्याओ को वे परिवर्जनीय मानते है

१ कपिला, २ अधिकागी, ३ रोगिणी, ४ अलोमिका, ५ अतिलोमा, ६ वाचाला, ७ पिंगला, ८ भातृहीना, ९ नक्षत्रवृक्षनदीनाम्नी, १० अन्त्यपर्वतनामिका, ११ पक्षहिप्रेष्यनाम्नी, १२ भीषणनामिका।[3]

कामसूत्र के कन्यावरणविधान पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है।[4] मनु का कथन है कि जब कन्या विवाहयोग्य हो तब उसके पिता को उसके विवाह का प्रबन्ध करना चाहिए क्योकि 'काले अदाता पिता वाच्य'। पर पिता अगर अपने इस कर्तव्य का निर्वाह न करे तो कन्या स्वय वर चुन सकती है।[5] मनु के इस परामर्श से कामसूत्रकार प्रभावित है।[6]

मनु की मान्यता है कि जिस घर मे पति पत्नी से सतुष्ट है और पत्नी पति से उसी मे ध्रुव कल्याण निवास करता है।[7] अत पतिव्रता पति का कभी अप्रिय न करे। वह प्रसन्नता एव चतुरता से गृहकार्य करे। कामसूत्र के एकचारिणीवृत्त मे इसी का अनुवाद किया गया है।[8]

---

१ मनुस्मृति, ३,२७ ३४

२ सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्व प्रवरो मत ॥
—कामसूत्र, ३,५,३०

३ अव्यगागी सौम्यनाम्नी हसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशना मृद्वगीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥
—मनुस्मृति, ३,१०,३,८,९,११

४ कामसूत्र, ३,१,१ ३

५ मनुस्मृति, ९ ४

६ कामसूत्र, ३,४,३६

७ वही, ४,१, मनुस्मृति ५,१५१

८ कामसूत्र, ४,१

श्वेतकेतु औद्दालकि ने नन्दीप्रणीत कामशास्त्र को पाँच सौ अध्यायों मे संक्षिप्त किया। इसको और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया बाभ्रव्य पांचाल ने। बाभ्रव्य के कामशास्त्र में डेढ़ सौ अध्याय और सात अधिकरण थे। साधारण, कन्यासम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक तथा औपनिषदिक नामक सात अधिकरण बाभ्रव्य की शास्त्रीय विचारधारा के परिचायक है। अतः बाभ्रव्य से कामशास्त्र के सम्पादन की नई परम्परा का सूत्रपात माना गया है।[1] कामसूत्र के आरम्भिक सूत्रों से स्पष्ट होता है कि मनु और बृहस्पति ने पृथक्करण किया पर नन्दी ने पृथक्करण के साथ प्रवचन भी किया। चूँकि प्रवचनपद्धति पृथक्करण पद्धति से प्राचीन है, नन्दी का कामशास्त्रविषयक प्रवचन धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के पृथक्करण के पूर्व हुआ होगा। यह प्रवचन-पद्धति बाभ्रव्य के काल में सम्पादन पद्धति और ग्रंथ प्रणयन पद्धति में विकसित हुई।

बाभ्रव्य के कामशास्त्र से दत्तकाचार्य ने वैशिक अधिकरण को, चारायणाचार्य ने साधारण अधिकरण को, सुवर्णनाभ ने साम्प्रयोगिक अधिकरण को, घोटकमुख ने कन्या सम्प्रयुक्तक को, गोनर्दीय ने भार्याधिकारिक को, गोणिकापुत्र ने पारदारिक को और कुचुमार ने औपनिषदिक को पृथक् किया।[2] इससे कामशास्त्र के प्रत्येक अंग का विशेषीकृत शास्त्रीय रूप विकसित हुआ। यह विशेषीकरण शास्त्रीय चिन्ता के विकास का अगला चरण है। पर इस विशेषीकरण के कारण कामशास्त्र के सभी अंगों का ज्ञान किसी एक ग्रंथ से प्राप्त करना असम्भव हुआ और फलतः कामशास्त्र उत्सन्नकल्प हो गया।[3] अतः वात्स्यायन ने सभी आचार्यों के सिद्धान्तों को संगृहीत कर कामसूत्र का प्रणयन किया। इस ग्रंथ में न तो बाभ्रव्य के ग्रंथ का दुरध्येयत्व है और न विशेषीकृत कामशास्त्रीय ग्रंथों का एकदेशत्व।[4] धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों की शैली में लिखे गये इस महान् कामशास्त्रीय ग्रंथ में कतिपय स्थानों पर तत्तद्विषयों के विशेषज्ञ आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है।

श्वेतकेतु औद्दालकि

१ रतावस्थापन प्रकरण में यह प्रश्न उठाया गया है कि स्त्री को पुरुष के समान

---

१ कामसूत्रम्, सम्पादक श्री देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९६४, आमुख, पृष्ठ १

२ वही, १, १, १२

३ एवं बहुभिराचार्यैस्तच्छास्त्रं प्रणीतमुत्सन्नकल्पमभूत्।

—वही, १, १, १३

४ वही, १, १, १४

भाव प्राप्ति होनी है या नही। इस सदर्भ में वात्स्यायन ने श्वेतकेतु का यह मत दिया कि पुरुष की तरह स्त्री को सम्भोग-सुख नही मिलता। श्वेतकेतु का कथन है कि पुरुष शुक्रक्षरण के समय रतिसुख प्राप्त करता है और उसके पश्चात् विरत हो जाता है, पर स्त्री विरत नही होती। उनके अनुसार चिरवेग नायक में स्त्री इसलिए नही अनुरक्त होनी कि वह उससे भाव प्राप्ति कर सकती है, बल्कि इसलिए कि कण्डूति—प्रतिकार उसे दीर्घ तक प्रिय होना है।[1]

२ दूतीकमप्रकरण में श्वेतकेतु का यह मत उल्लिखित है कि नायिका नायक से अपरिचित हो तो दूतीकर्म नही हो सकता।[2]

३ वैशिक अधिकरण के अर्थादिविचार प्रकरण म श्वेतकेतु द्वारा कथित उभयतो योगो का उल्लेख किया गया है।[3]

बाभ्रव्य

१ नायकसहायदूतकर्मविमर्शप्रकरण में गम्यागम्याविचार के सन्दर्भ म बाभ्रवीयो का यह मत दिया गया है कि जिस स्त्री न पाच पुरुषो से सम्पर्क स्थापित किया हो वह अगम्या नही है।[4]

२ बाभ्रवीयो के अनुसार स्त्री सहवास के प्रारम्भ से अन्त तक भाव प्राप्ति करता है, पर पुरुष केवल रतान्त म ही भाव प्राप्ति करता है। उनका कथन है कि बिना भाव प्राप्ति के गर्भसम्भव असम्भव है।[5]

३ बाभ्रवीयों के विचार म कामशास्त्र को 'चतु षष्टि' कहना इसलिये सार्थक है कि उसके आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत, दन्तक्षत, सवेशन, सीत्कृत, पुरुषायित और औपरिष्टक नामक आठ अगो के आठ-आठ भेद होने है।[6]

४ बाभ्रवीयो द्वारा कथित आठ उपगूहन प्रकारो की व्याख्या वात्स्यायन ने

---

१ कामसूत्र, २, १, १४ १६

२ नामस्तुतादृष्टावाकारयोर्दूत्यमस्तीत्यौद्दालकि ।

—वही, ५, ४, ३२

३ वही, ६, ६, ३५

४ दृष्टपचपुरुषा नागम्या काचिदस्तीति बाभ्रवीया ।

—वही, १, ५, ३०

५ वही, २, १, १८

६ वही, २, २, ४

आनिगन विचारप्रकरण म की है।[1]

५ विवाहोत्तर तीन रात्रियाँ पति-पत्नी-समागम के लिए निषिद्ध हैं। पर पत्नी पति को अगर स्तम्भ के समान स्थिर देखेगी तो उसे दु ख होगा और वह पति को तृतीया प्रकृति समझकर निरस्कृत करेगी। बाभ्रवीयो का यह मत कन्याविस्रम्भण प्रकरण में उल्लिखित है।[2]

६ बाभ्रव्य का कथन है कि पुनर्भू स्वेच्छा से अपने पति को छोडकर दूसरे के घर बैठ जाती है और फिर उस भी निगुण कहकर अन्य को चाहने लगती है।[3]

७ दूतीकर्म के विषय म बाभ्रवीयो का मत है कि नायक नायिका के परस्पर परिचित न होने पर भी दूतीकर्म हो सकता है अगर उनके भाव सङ्केत प्रकट होचुके हो।[4]

८ बाभ्रव्य के अनुसार दूतीप्रत्यय समागम के ये अवसर है—देवतापूजन को जाते समय, उद्यानक्रीडा म, मृत्यु तथा उत्सव के अवसर पर, आग लगने क समय, चोरो क आक्रमण का विभ्रम होने पर, राजपरिवर्तन के समय तथा प्रेक्षाव्यापारो में।[5]

९ बाभ्रवीयो का कथन है कि परपुरुष के कहे वचनो का वहाना करने वाली तथा अपने मन्तव्य को छिपाने वाली स्त्रियो की सहायता से अन्त पुरिकाओ के शील की परीक्षा करें।[6]

१० श्वेतकेतु के उभयनीयोगो क बाद वात्स्यायन ने बाभ्रवीयो के उभययोगो का कथन किया है।[7]

दत्तकाचार्य

वात्स्यायन का वेश्यावृत्त दत्तकाचार्य के शास्त्र पर आधारित है। वैशिक अधिकरण म कान्तानुवृत्त तथा अयागमोपायादि प्रकरणो म दत्तकप्रोक्त वेश्यावृत्त की व्याख्या है।[8]

चारायण

१ चारायण के मतानुसार नागरक को दूसरा भोजन शाम को करना चाहिए।[9]

---

१ कामसूत्र, २ २, ६ २१
२ वही, ३, २, ३
३ वही, ४, २, ३२
४ वही, ५, ४, ३३
५ वही, ५ ४ ४२
६ वही, ५, ६, ४३
७ वही, ६, ६, ३६ ४०
८ वही, ६, २, ७४
९ वही, १, ४, ७

२ चारायण के मत में राजा से सम्बद्ध एकदेशचारिणी और कार्यसम्पादिनी पचमी नायिका है।[१]

सुवर्णनाभ

१ सुवर्णनाभ प्रव्रजिता विधवा को छठी नायिका मानते है।[२]

२ सुवर्णनाभ द्वारा कथित ऊरूपगूहन, जघनोपगूहन, स्तनालिंगन, तथा ललाटिका नामक चार आलिंगन प्रकारो की व्याख्या वात्स्यायन ने की है।[३]

३ सुवर्णनाभ के अनुसार नखच्छेद्य के स्थान अस्थान के औचित्य का ज्ञान रति प्रवृत्त को नही होता।[४]

४ सुवर्णनाभ का मत है कि पुरुष अपनी रुचि के अनुसार रतोपचार करे, क्योकि देशसात्म्य म प्रकृतिसात्म्य श्रेष्ठ है।[५]

५ सुवर्णनाभ-कथित सवेशन प्रकारो की व्याख्या कामसूत्रकार ने की है।[६]

६ युवतियो की काम प्रवृत्ति के सम्बन्ध म सुवर्णनाभ कथित रहस्य वात्स्यायन ने पुरुषायित प्रकरण म दिया है।[७]

घोटकमुख

१ ये आचार्य गणिका की कन्या अथवा परिचारिका को भी नायिका मानते ह।[८]

२ उनका सुझाव है कि पुरुष ऐसी कन्या म विवाह करे कि समवयस्क मित्रो द्वारा उस निन्दित न होना पडे। कन्या का विवाह निश्चित करते समय उसके माता पिता परिवार के सदस्यो और अन्य सम्बन्धियो स भी सलाह लें।[९]

३ उनका कथन है कि पुरुष की बार बार कही हुई बात कन्या मह लेना है, पर वह स्वय नही बोलती।[१०]

---

१ कामसूत्र, १, ५, २२

२ वही, १, ५, २३

३ वही, २, २, २२ २६

४ प्रवृत्तरतिचक्राणा नस्थापमस्थान वा विद्यते इति सुवणनाभ । वही, २, ४, ६

५ वही, २, ५, ३४

६ वही, २, ६, २३ ३८

७ वही, २, ८, १६

८ वही, १, ५, २४

९ वही, ३, १, ३ तथा ३, १, ९

१० वही, ३, २, १७

४ वालीपक्रमणप्रकरण म घोटकमुख का यह मत उल्लिखित है कि बचपन से ही किसी बाला पर प्रेम हो तो उस वश म कर लेना श्लाघ्य है।[1]

११ वही, ३, ३, ५

गोनर्दीय

१, यौवनारूढा कुलीन युवती को गोनर्दीय आठवी नायिका मानते हैं।[2]

२ पुनर्भू के सम्बध म इनका अभिमत है कि वह पूण प्रेमी स अधिक गुणी तथा सुरत-सुख देनेवाले पर रीझती है।[3]

गोणिकापुत्र

१ गोणिकापुत्र परस्त्री को नायिका मानते हैं।[4]

२ उनके मतानुसार पाच पुरुषो स समागम कर चुकने पर भी सम्बधी, तथा मित्र एव राजा की स्त्री अगम्या है।[5]

३ स्त्री पुरुष की काम प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए वे कहते है कि पुरुष उज्ज्वल स्त्री को देखकर रीझता है और स्त्री उज्ज्वल पुरुष को देखकर उसकी कामना करता है।[6]

४ इसका कथन है कि नायक नायिका के परिचय और भावसंकेत के अभाव में भी दूतीकम हो सकता है।[7]

कुचुमार

वात्स्यायन ने औपनिषदिक अधिकरण में कुचुमार-योगो का वणन किया है जिनमें सुभङ्गकरण, वशीकरण, वाजीकरण आदि सन्निविष्ट हं।

इस प्रकार वात्स्यायन ने अपने पूववर्ती आचार्यों क सिद्धान्तो का विश्लेषण अपनी रचना म किया है। कही-कहा उनके विचारो की आलोचना कर उन्होने अपने सिद्धातो का प्रतिपादन और समथन भी किया है। अत कामशास्त्र की परम्परा का चरम

१, वही, ३, ३

२ उत्कान्तबालभावा कुलयुवतिरुपचारान्यत्वादष्टमीति गोनर्दीय।

—कामसूत्र १, ५, २५

३ वहो, ४, २, ३४

४ अयकारणवशात्परपरिगृहीतापि पाक्षिकी चतुर्थीति गोणिकापुत्र। वही १, ५, ४

५ वही, १ ५, ३१

६ य कचित्तुज्ज्वल पुरुष दृष्ट्वा स्त्री कामयते। तथा पुरुषोपि योषितम्।

—वही, ५ १ ८

७ वही, ५ ४, ३४

विकास कामसूत्र में प्राप्त होता है। उत्तरकालीन कामशास्त्रीय ग्रन्थ पर इसका प्रभाव अवर्णनीय है।

वात्स्यायनोत्तर कामशास्त्रकार

वात्स्यायनोत्तर कामशास्त्रों में प्रमुख हैं—कोक्कोक, भिक्षु पद्मश्री, मैथिल ज्योतिरीश्वर कविशेखर, कल्याणमल्ल, जयदेव और प्रौढदेव। कामसूत्र से प्रभावित इन कामशास्त्रों की रचनाओं का संक्षिप्त विवरण देने पर ही कामशास्त्र की परम्परा में कामसूत्र का स्थान हम निर्धारित कर सकेंगे।

कोक्कोक पण्डित

ईसा की तेरहवीं शताब्दी में कोक्कोक या कोका पण्डित द्वारा रचित 'रतिरहस्य' नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थ हिन्दुओं और मुसलमानों में समादृत था। कोकाजी का प्रभाव इतना सूक्ष्म रहा कि कामशास्त्र को उनके नाम पर कोकशास्त्र संज्ञा प्राप्त हुई। अनेकों मध्यकालीन कवियों ने अपने काव्य के नायकों और नायिकाओं को कोकशास्त्र निपुण कहा है। कोकाजी ने 'रतिरहस्य' की रचना श्रावैन्यदत्त नामक राजा के काम विषयक कुतूहल व्यक्त करने पर की।[1] उन्होंने 'वात्स्यायनसूत्रमप्रहृदयहिभूत' तथा आगम में दुष्ट आशय की व्याख्या श्रद्धा के साथ की है।[2] कामशास्त्र के तीन प्रयोजन वे मानते हैं—(१) असाध्या को वश में कर लेना, (२) सिद्धा अनुरंजन करना, और (३) अनुरक्ता के साथ सम्यक् रतिक्रीड़ा करना।[3] मन्मथतन्त्र में अनभिज्ञ रतितन्त्रमूढ़ उनके मतानुसार, 'परमतत्त्वमहानन्दोदय' रतिसुख से ही वंचित रह जाता है जैसे नारिकेल प्राप्त करने पर भी मूढ़ कपि।[4]

रतिरहस्य की विशेषता है पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी एवं हस्तिनी नामक नायिका भेदों का निरूपण और उनके सहवास की तिथियां तथा यामों का वर्णन।[5]

---

१ कोक्कोकनाम्ना कविना कृतोऽयं श्रोवैन्यदत्तस्य कुतूहलेन।—रति रहस्य, श्लोक ४

२ वही, श्लोक ६

३ असाध्याया सुख सिद्धि सिद्धायाश्चानुरंजनम्।
रक्तायाश्च रति सम्यक् कामशास्त्रप्रयोजनम्॥ —वही, श्लोक ६

४ जातिस्वाभावगुणदेशजधर्मचेष्टा भावेङ्गितेषु विकलो रतितन्त्रमूढ़।
लब्ध्वापि हि स्खलति यौवनमङ्गनानां किं नारिकेलफलमाप्य कपि करोति॥
—वही, श्लोक ८

५ वही, श्लोक १० २३

कोकाजी ने नन्दिकेश्वर और गोणीपुत्र के मत के आधार पर चन्द्रकला सिद्धांत का विवेचन किया है। उन्होंने के शुक्ल पक्ष में स्त्री के दक्षिण चरणांगुष्ठ से लेकर क्रमशः चरण, गुल्फ, जानु, जघन, नाभि, वक्ष, स्तन, कक्षा, कण्ठ, कपोल, ओष्ठ नेत्र, अलक तथा मूर्द्धा में कामदेव का निवास होता है, पर कृष्णपक्ष में वामांग के शिर से क्रमशः चरणांगुष्ठ तक वह अधोगमन करता है। अतः तिथ्यनुसार नख क्षतादि रतोपचारों के द्वारा कामस्थान को उत्तेजित करने का विधान उन्होंने किया है।[1]

कोकाजी ने कामसूत्र के आधार पर नायक-नायिका भेदों और रत भेदों का विवेचन किया है। कोकाजी की विशेषता यह है कि उन्होंने शश-वृष-अश्व नायकों और मृगीवडवा-हस्तिनी नायिकाओं के बाह्य लक्षण भी दिये हैं।[2]

रतिरहस्य में गुणपताका और कर्णीसुत के आधार पर स्त्री की बालादि अवस्थाओं, कफादि प्रकृतियों एवं देवसत्त्वादि भेदों को संक्षेप में कहकर पंडितजी ने स्त्रियों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कामचिह्नों का परिगणन किया है। देशज चेष्टाओं और कामोपचारों का वर्णन करने के पश्चात् उन्होंने भार्याधिकार, परदारिकाधिकार तथा वशीकरणोधिकार का निरूपण किया है। इस प्रकार 'वात्स्यायनसूत्रसंग्रहवहिभूत' कतिपय कामशास्त्रीय तत्त्वों का विवरण और नन्दिकेश्वर, गुणपताकाकार एवं कर्णीसुत के सिद्धान्तों का संग्रह रतिरहस्य में अवश्य मिलता है, पर शेष बातों में कोकाजी ने कामसूत्र ही का अनुवाद किया है।

भिक्षु पद्मश्री

ग्यारहवीं और चौदहवीं शताब्दी के बीच पद्मश्री ने 'नागरसर्वस्व' नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की और गृहस्थाश्रमी नागरिकों का त्रिवर्गसाधन में उपादेय तत्त्वों का निरूपण किया। कामशास्त्र के सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता उन्होंने इसलिए मानी है कि मनुष्य का रतिसुख पशु से भिन्न होता है।[3]

उनका नागरकनिभवनवर्णन वात्स्यायन के नागरकनिवासवर्णन का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। पर रत्नपरीक्षा और लोकेश्वरादि शास्त्रों से सार ग्रहण कर केश, बाहुमूल, गृह वस्त्र, मुख जल, सुपारी, उबटन तथा बत्ती को सुगंधित करने की विधियों

---

१ *रतिरहस्य, श्लोक १ १७, चन्द्रकलानिरूपण*

२ वही, सुरतभेदे जात्यधिकार, श्लोक १ ३८

३ नानाविचित्र सुरतोपचारैः क्रीडासुखं जन्मफलं नराणाम्।
कि सौरभेयीशतमध्यवर्ती वृषोऽपि संभोगसुखं न भुङ्क्ते॥

—नागरसर्वस्व, प्र० प० २

का वणन सवथा नवीन है। पचम के दशम परिच्छेद तक क्रमश भाषा, *अग, पोटली, वस्त्र, ताम्बूल तथा पुष्पमाला सकेतो का वणन पद्मश्री ने किया है पर इसका शुद्ध, अशुद्ध तथा सकीर्ण भावो का विश्लेषण साहित्यशास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1] कामशास्त्रीय विषयो में उन्होने स्त्री के मदनमन्दिर की नाडियो तथा उनको उत्तेजित करने के उपायो को भी सन्निविष्ट कर लिया है।[2]

कविशेखर ज्योतिरीश्वर

विद्यापति के प्रपितामह कविशेखर ज्योतिरीश्वर द्वारा रचित 'पचसायक' का नामकरण पच बाणो से स्त्रीपुरुषो को कामविह्वल करने वाले कामदेव के नाम पर हुआ है। उन्होने पूर्वाचार्यों की सूची में ईश्वर वात्स्यायन, गोणीपुत्र, मूलदेव, बाभ्रव्य, नन्दीश्वर, रन्तिदेव और क्षेमेन्द्र का उल्लेख किया है। इस परम्परा के कतिपय आचार्यो की रचनाएँ या तो कालस्खलित हो गई है या अभी अप्राप्य हैं। स्वाधीनपतिकादि अष्ट नायिकाप्रकारो के अतिरिक्त इसमें कोई नवीन विषय विवचित नही है।

कल्याणमल्ल

कविवर कल्याणमल्ल ने 'मनानि दृष्ट्वा बहुशो मुनीना तत्सारमादाय' 'अनगरग की रचना की है। सहवाससुख को ये परमानन्दतुल्य मानते है।[3] उनके अनुसार परमार्थिक और कामशास्त्रनिपुण विद्वान् विविध रतिविनोदो से अनुदित कामिनियो का रजन करता हुआ सहज ही में परिपूर्ण फल प्राप्त करता है। कल्याणमल्ल ने यह ग्रथ अपने आश्रयदाता लोदीवशीय लाडदेव के कौतुक के निमित्त सोलहवी शती में रचा। इस ग्रथ में कोई नवीन विषय विवेचित नही है।

प्रौढदेव महाराज

विद्वानो का अनुमान है कि मैसूरनरेश प्रौढदेव ने 'रतिरत्नप्रदीपिका' की रचना सत्रहवी शताब्दी में की।[4] गुणपताका के आधार पर श्लथा, मध्या तथा घना नामक नारी भेदों और आयुविशेष के अनुसार फिर उनके सात भेदो का निर्देश इस ग्रथ की विशेषता है।

---

१ नागरसर्वस्व, परिच्छेद ३, ४

२ वहा, परिच्छेद १८, १९

३ अनगरग, श्लोक ५

४ S K Dey Ancient Indian Erotics and Erotic Literature, p 105

जयदेव

जयदेवकृत रतिमंजरी एक अतिलघु रचना है जिसमें साठ श्लोकों में नायक-नायिका-लक्षण, कामकला, सम्भोगसामान्यप्रकार, नायिकारतविलाप, भगलिंगगुणदोष, और षोडश कथा का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

अन्य कामशास्त्रीय ग्रन्थ

महर्षि पुरूरवा द्वारा रचित 'पौरूरवमनसिजसूत्र' एवं 'कामेश्वरीस्वीकरणसूत्र' नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थों का महत्व इसलिए माना जा सकता है कि ये रचयिता के निजी अनुभव और रतिशास्त्राध्ययन पर आधारित हैं।[1] पर लगता है कि पुरूरवा के नाम पर अन्य किसी व्यक्ति ने इनका प्रणयन किया होगा। अगर पुरूरवा, जिनकी प्रेम-कथा ऋग्वेद में वर्णित है द्वारा इनकी रचना हुई होती तो वात्स्यायन अपने पूर्वाचार्यों में उनका अवश्य उल्लेख करते। 'पौरूरवमनसिजसूत्र' में रत्यानन्द को परमानन्द कहा गया है।[2] इसमें बाह्य और आभ्यन्तर रत का वर्णन है। कामेश्वरीस्वीकरणसूत्र' में सम्भोग के समय मद्यपान की उपादेयता स्पष्ट की गयी है।[3] राजर्षि भरत ने इसकी व्याख्या लिखी है।[4] मीननाथकृत 'स्मरदीपिका' में समस्त कामशास्त्रीय विषयों का संक्षेप में विवेचन किया गया है।[5] रतिरहस्य में इसके कतिपय श्लोक ज्यों-के-त्यों लिए गये हैं। सामराज दीक्षित ने 'बाभ्रव्यकारिका' की व्याख्या लिखी है।[6] इनके अतिरिक्त सामराज दीक्षित सूनु 'रतिकल्लोलिनी', कुमारहरिहरनामानन्दकृत 'शृङ्गाररसप्रबन्धदीपिका' और श्रीनिवास सूर्यवयकृत 'कामनन्दकाव्य' भी प० ढुण्ढिराजशास्त्री द्वारा सम्पादित 'कामकुंजलता' में संकलित है।[7]

कामसूत्र का स्थान

वात्स्यायन का कामसूत्र पूर्ववर्ती और परवर्ती कामशास्त्रीय ग्रन्थों के बीच की एक

---

१ पुरूरवास्तु षडशीतिसहस्रसमा उर्वश्या सह रतिशास्त्र समभ्यसत्। अद्वितीय मनसिजशास्त्रप्रवक्ताचार्यो बभूव।

—कामकुंजलता, पौरूरवमनसिजसूत्रभाष्य, पृ० २

२ वही, पृ० ७ सूत्र ८ और पृ० २६ सूत्र ४९

३ वही, पृ० ११३, मंजरी ३

४ वही, मंजरी २

५ वही, मंजरी ८

६ वही

७ वही, मंजरी, १०, ११, १२

ऐसी बड़ी है जिससे कामशास्त्र की परम्परा के विकास का पूरा आभास मिल जाता है। अगर इस ग्रंथ की रचना न हुई होती तो कदाचित् यह परम्परा खण्डित हो जाती। एक ओर वात्स्यायन अपने पूर्वाचार्यों के पारम्परिक विचारों का स्वीकार करते हुए लक्षित होते हैं और दूसरी ओर परवर्ती आचार्यों को प्रेरणा प्रदान करते हुये दिखाई देते हैं। बाभ्रव्य की रचना का अनुसरण कर वात्स्यायन ने कामसूत्र को सात अधिकरणों और चौंसठ प्रकरणों में विभाजित किया और विषयों के पौर्वापर्य का ध्यान रख कर शास्त्रीयता की रक्षा की। कामसूत्र पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का संग्रह मात्र नहीं है, वह मौलिक रचना है। अन्य आचार्यों के विचारों की व्याख्या करके उन्होंने 'इति वात्स्यायन' लिखकर अपना निजी निर्णय दिया है और अपनी स्वतन्त्र परिणतप्रज्ञा का परिचय दिया है। जिस सूत्र शैली में कामसूत्र की रचना हुई है, वह प्रगाढ़ पाण्डित्य का प्रदर्शन करने और वर्ण्य विषय से असम्बद्ध बातों को ठूसने का अवसर नहीं दे सकती थी।

कामसूत्र शास्त्रीय ग्रंथ है। उसमें वात्स्यायन की वैज्ञानिकता, सिद्धान्तनिष्ठा और व्यवस्थाप्रियता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। वात्स्यायन केवल सिद्धांत विवेचना के झमेले में पड़कर वास्तविकता को कभी आँखों से ओझल नहीं होने देते। कामसूत्र में सामान्यीकृत सिद्धांतों की धूमिलता नहीं, नैतिकता की अवांछित दासता नहीं, फिर भी दुराचार का समर्थन नहीं, फूहड़पन या गँवारपन नहीं। उसमें विचारों की स्पष्टता है, और है शब्दों की परिमितता भी। मनुष्य के मूलविकार को उत्तेजित करने का यहाँ प्रयास नहीं है और न स्वयं उत्तेजित होकर अपने विकारों की अभिव्यक्ति का। वैज्ञानिक के लिए आवश्यक तटस्थ, वस्तुपरक दृष्टिकोण, एवं विचारों का सन्तुलन कामसूत्र की पंक्ति-पंक्ति में पाया जाता है। इसी कारण व परवर्ती कामशास्त्रकारों के प्रेरणा-स्रोत बन गए। उन्होंने विकारतरल विषय को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का आदर्श स्थापित किया।

कोकादि के ग्रंथों का अनुशीलन करने पर लगता है कि वैज्ञानिकता की ऊंचाई तक पहुंचने का यह प्रयास भर करते रहे हैं। उन्होंने वात्स्यायन के विचारों का अनुवाद किया है, पर उनकी सूत्रशैली का परित्याग भी। परवर्ती कामशास्त्रीय ग्रंथ प्रायः छन्दोबद्ध हैं और वात्स्यायन की सी विषय व्यवस्था एवं शैली योजना उनमें नहीं है।

कामशास्त्र की परम्परा पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट होता है कि उसका उद्गम धर्म के साथ ही हुआ। हमारे धार्मिक साहित्य में ही उसका मूल उत्स है। प्रजापति के विशाल शास्त्र से धर्म, अर्थ और काम की धाराएँ फूट निकलीं और जीवन के सागर में सम्मिलित हुई। धर्म की धुरी अर्थ और काम से प्रारम्भ से ही जुड़ी हुई है। इसी कारण कामशास्त्रकारों ने त्रिवर्ग की प्राप्ति का उद्देश्य रख कर धर्माविरुद्ध रहकर काम सेवन की शिक्षा दी है। वात्स्यायन ने धर्मशास्त्र से प्रेरणा ली है, कौटिलीय अर्थ-

कामानन्द मनुष्य व मन तथा आत्मा मे सम्बद्ध है। कण, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और प्राण इन्द्रियो से जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध सयुक्त हो जाते है तब मन में कामोत्पत्ति होती है। उससे प्राप्त सुख आत्मा मन के द्वारा ग्रहण करती है।[1] अत कामानन्द आत्मानन्द है। पर विशिष्ट कामानन्द तब प्राप्त होता है जब ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयो में चुम्बनादिक आभिमानिक सुख के साथ रत हो जाती है और सवेशन के द्वारा वीर्यक्षरण होता है। यही फलवती अर्थप्रतीति है, रतिसुख है।[2] इस रतिसुख की प्राप्ति के उपायो का विवेचन करना कामसूत्र का प्रयोजन है।

धर्म के उचित आचरण के लिए जसे श्रुतिज्ञान आवश्यक है, अर्थार्जन के लिए जैसे अध्यक्षप्रचार एव वार्तासमयो का अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही कामसिद्धि के लिए कामसूत्र का परिशीलन आवश्यक है। कामसूत्र समाजशास्त्रीय ग्रथ है जिसके तत्त्वों को जाननेवाला मनुष्य धर्म और अर्थ मे समन्वित काम का उपभोग करता है। लोकयात्रा को सुचारु बनाना ही इसका लक्ष्य है, कामासक्ति की वृद्धि नही।[3] कामसूत्र का ज्ञाता त्रिवर्ग की स्थिति तथा लोकोपचार की रक्षा करता हुआ जितेन्द्रिय बनता है। वही सिद्धि प्राप्त करता है, कामी नही। इस प्रकार कामवृत्ति के उन्नयन के द्वारा व्यक्ति एव समाज की धारणा तथा विकास के उपायो का ज्ञान प्रदान करना ही कामसूत्र का प्रयोजन है, अनियन्त्रित कामाचार या व्यभिचार की शिक्षा देना नही।[4] अत विवाह के लौकिक एव आध्यात्मिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कामाचरण के शास्त्रीय सिद्धान्तो तथा प्रयोगो का परिशीलन आवश्यक है। पुरुष ही को नहा अपितु स्त्री को भी युवावस्था के पूर्व मैव में तथा विवाह के बाद पति के घर पर कामसूत्र का अध्ययन करना चाहिए।[5]

---

१ श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसयुक्तेन मनसाधिष्ठिताना स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यत प्रवृत्ति काम ।

—वही, १, २, ११

२ स्पर्शविशेषविषयात्त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीति प्राधान्यात्काम ।

—वही १, २, १२

३ तदेतद्ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना ।
विहित लोकयात्राय न रागार्थोऽस्य सविधि ॥

—कामसूत्र, ७, २, ५७

४ तदेतत्कुशलो विद्वान्धर्मार्थाववलोकयन् ।
नातिरागात्मक कामी प्रयुञ्जान प्रसिध्यति ॥ —कामसूत्र, ७-२ ५८

५ वही, १ ३ १ २

कन्या के चरित्रनिर्माण और कामशास्त्र की असाधारणता का ध्यान रखकर वात्स्यायन निम्नोक्त छह आचार्यों से उसका ग्रहण सुविधाजनक मानते है—१ ऐसी धात्रिका जिसे पुरुषसहवास का अनुभव हो, २ निर्दोष भाषण करनेवाली सहेली जिसे पुरुषसग का अनुभव हो, ३ समवयस्क मातृष्वसा, ४ विश्वासपात्र वृद्धा दासी, ५ विश्वासपात्र भिक्षुणी, और ६ ज्येष्ठा भगिनी।

कुछ आचार्य काम को स्वभावसिद्ध मानते है। वे कहते है कि बिना कामशास्त्र की शिक्षा पाये ही पशुपक्षी कामोपभोग के लिए प्रवृत्त होते हैं, अत कामशास्त्र की आवश्यकता नही है। पर वात्स्यायन यह मत स्वीकरणीय नही मानते। पशु-पक्षी कामोपभोग के लिए स्वतन्त्र होते है, उनके लिए न उपचारो की आवश्यकता होती है न धर्मार्थसेवन की। स्त्री-पुरुष परतन्त्र होते हैं और उन्हें धर्मार्थसेवन की आवश्यकता होती है। अत परस्पर रागोद्भव और रतिसुख की यथार्थ प्राप्ति के लिए कामशास्त्र का परिज्ञान अनिवार्य है।[1] अर्थचिन्तक भी काम को धर्मार्थ म बाधक मानते है। उनका कथन है कि कामाचरण से मनुष्य दुष्ट और व्यभिचारी बनता है, वह पाप की ओर प्रवृत्त होता है और समाज में घृणा का पात्र बनता है। यह तथ्य है कि अतिकामाचार से ये दोष उत्पन्न होते है, पर कामाचार का परित्याग भी सभव नही। दरवाजे पर खडे भिक्षुक से आतकित होकर कोई भोजन बनाना नही त्यागता और न इस आशका से बीज बोना कि हिरन उसे खा जाएँगे।[2] कामसूत्रकार कामसुख को हेय नही मानते, पर उपर्युक्त दोषो से बचने के लिए उसे धर्मार्थ से अनुबद्ध करने की शिक्षा देते हैं।

मध्यकालीन धर्मसाधना में काम का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। सभी सम्प्रदायो के आचार्यो को काम की गरिमा ज्ञात थी। सभी भक्तो ने कामक्रीडा का नि सकोच भाव से वर्णन किया। धर्म और काम का जो गठबन्धन धर्मशास्त्र म हुआ और कामसूत्र में स्वीकृत हुआ उसका प्रतिफलन भक्ति काव्य में द्रष्टव्य है। ऐहिकतापरक रचनाओ में तो लौकिक कामलिप्सा ही का प्राचुर्य है।

कामसूत्र के मुख्य वर्ण्य विषय

नागरकवृत्त—

यथाविधि विद्योपार्जन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने और विदग्ध रसिक के समान आचरण करने का परामर्श वात्स्यायन ने दिया है।[3] इसके अन्तर्गत चार विषयो

१ वही, १ २ १४

२ वही, १ २ ३२ ६८

३ गृहीतविद्य प्रतिग्रहजयक्रयनिर्वेशाधिगतैरर्थैरन्वयागतैरुभयैर्वा गार्हस्थ्यमधिगम्य नागरकवृत्त वर्तेत।
—कामसूत्र, १-४-१

का विवरण आता है—१ नागरक का निवास, २ नागरक की दिनचर्या, ३ उसकी नैमित्तिक चर्या और ४ उपनागरकवृत्त।

वात्स्यायन का कथन है कि नागरक नगर, पत्तन, खवट अथवा महत् में[1] सज्जनों के बीच निवास करे। उसका घर जल के समीप और वृक्षवाटिका से युक्त हो। उसके घर में दो वासगृह हों। वहिः प्रकोष्ठ में ऐसा सुरभित शय्या हो, जिसके सिरहाने तथा पैताने उपधान लगे हों, जो बीच में झुकी हो और जिस पर शुभ्र चादर बिछी हो। उसके पास ही सहवास के लिए छोटी शय्या हो। उसके सिरहाने कूर्चस्थान और वेदिका हो, जिस पर अनुलेपन पुष्पमाला, मोमबत्ती, सुगन्धिपात्र, मातुलुंग की छाल और ताम्बूल रखे हों। नीचे भूमि पर पीकदान हो और नागदन्त पर वीणा। चित्रफलक, तूलिका, रंग की डिबिया पुस्तक तथा कुरण्टक पुष्पों की माला यथास्थान रखे हों। पास ही भूमि पर एक आस्तरण, द्यूतक्रीड़ा के लिए आकर्षफलक तथा द्यूतफलक हों। इस वासगृह के बाहर मनोरंजन के लिए पंजरबद्ध पक्षी हों और एकान्त में अपद्रव्य बनाने तथा मनोविनोद के लिए स्थान हो। वृक्षवाटिका की सघन छाया में क्रीडार्थ एक चबूतरा और फूलों से बिछी वेदिका हो।

नागरक की दिनचर्या का विधान देते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि वह प्रातःकाल नित्यकृत्यों से निवृत्त होकर दन्तधावन करे और तत्पश्चात् उचित मात्रा में अनुलेपन तथा धूपग्रहण करे। ओष्ठों को अलक्तक से रंगकर तथा मोम से चिकना बनाकर दर्पण में मुँह देखे और सुरभित ताम्बूल खाकर त्रिवर्ग प्राप्ति के कार्य में जुट जाएँ। नागरक पूर्वाह्न तथा अपराह्न में भोजन करे और उसके बाद शुकसारिकाओं से प्रलापन करे, लावक कुक्कुट और मेष का युद्ध देखे तथा पीठमर्दादि को सौंप गये कामों की ओर ध्यान दे। तीसरे प्रहर वह सजधजकर गोष्ठियों में सम्मिलित हो। सायंकाल उसके घर पर संगीत का प्रबंध हो। उसके बाद वह धूप से सुरभित और विभूषित वासगृह में अभिसारिकाओं की प्रतीक्षा करे। आगत नायिका का मनोहर आलापों और व्यवहारों से स्वागत करे।[2]

वात्स्यायन ने नागरक के आमोद प्रमोदों, सामूहिक और क्षेत्रीय क्रीड़ाओं का सविस्तार वर्णन किया है। सामूहिक क्रीड़ाओं के अन्तर्गत घटानिबन्धन, गोष्ठीसमवाय, उद्यानगमन, और समस्या क्रीडा का उल्लेख है। विभिन्न ऋतुओं में देवतार्चनविषयक उत्सवों और विशेष रूप से कामदेवोत्सव के समय आयोजित गोष्ठियों को घटानिबन्धन

---

१ नगर = ८०० गावों के मध्य बसा हुआ शहर, पत्तन = राजधानी, खवट = २०० गाँवों के बीच बसा हुआ शहर, महत् = ४०० गावों के बीच बसा हुआ शहर।

२ कामसूत्र, १, ४, २ १३

कहते हैं। गोष्ठियाँ बौद्धिक, साहित्यिक और सागीतिक होती थी। विशेष अवसरों पर सामूहिक रूप से किया गया मद्यपान समापानक कहलाता है। यक्षरात्रि, सुवसन्तक, कामुदीजागर आदि उत्सवो का उल्लेख इस सदभ में किया गया है। पूर्वाह्न में नागरक वेश्याओ के साथ उद्यानविहार करता था। क्रीडाओ में सहकारभजिका, अभ्यूपखादिका, बिसखादिका, उदकक्ष्वेडिका, एकशाल्मली, कदम्बयुद्ध आदि मनोविनोदो का परिगणना की गई है।[1]

नायक नायिका के बीच सन्धिविग्रह का काय उपनागरक करते है। पाठमर्द विट और विदूषक इसमें निपुण होते है।[2]

इस प्रकार वात्स्यायन ने तत्कालीन सभ्यता का यथाथ चित्र नागरकवृत्तवणन म प्रस्तुत किया ह। नागरक क भवन विन्यास, उसके मनोविनोदो और उत्सवादि के आयोजनो स सामन्ती समाज की विदग्धता एव रसिकता स्पष्ट होती है। सुखोपभोग की प्रवृत्ति उस समाज में बलवती थी और वेश्या तथा गणिका भी समादरणीय थी। मध्यकालीन हिंदी काव्य म ऐसी ही सामन्ती सभ्यता प्रतिबिम्बित है। प्रेमाख्यानो के नायक, कृष्णभक्तो के कृष्ण और शृङ्गार काव्य के नायक ऐसे ही रसिक नागरिक प्रतीत होते है। इस काव्य में नागरक क शयन गृह, मनोविनोदों और सामूहिक क्रीड़ाओ का वणन प्राप्य है।

नायिका भेद

कामसूत्र में नायक-नायिका भेदो के दो आधार गृहीत है—१ सामाजिक सम्बध, और २ रतिक्रीडा। सामाजिक सम्बध की दृष्टि से नायिका के चार भेद है—१ कन्या, २ पुनभू, ३ वेश्या, और ४ परपरिणीता।[3] सवर्णा कन्या ही श्रेष्ठ नायिका है क्योंकि वह पुत्रफला भी होती है और सुखफला भी। वेश्या और पुनभू के साथ काम सम्बध न निषिद्ध है और न शिष्टजनोचित।[4] पर स्त्री के साथ सम्भोग धमविरुद्ध है। किन्तु शत्रु का प्रतिशोध, ऐश्वयलिप्सा, जीविकाप्राप्ति आदि प्रयोजनो की पूर्ति के लिए वह वर्जित नही है।[5]

---

१ वही, १, ४, १४ २८

२ वही, १, ४, ३१ ३५।

३ तत्र नायिकास्तिस्र कन्या पुनभू वैश्या च इति। अन्यकारणवशात्परपरिगृहीतापि पाक्षिकी चतुर्थीति गोणिकापुत्र। तस्माच्चतस्र एव नायिका इति वात्स्यायन।
—कामसूत्र, १, ५, ३, ४, २६

४ वही, १, ५, ६

५ वही, १, ५, ५ २१

उपस्थ-परिमाण के आधार पर नायिका के तीन प्रकार हैं—१ मृगी, २ वडवा और ३ हस्तिनी।[1] सुरतकालीन भावावेग के अनुसार उनके तीन वर्ग निर्धारित किये गये हैं—मन्दवेग, मध्यवेग और चण्डवेगा। स्खलन-काल की दृष्टि से भी उनके तीन भेद होते हैं—शीघ्र, मध्य और चिर।

नायकभेद

कामसूत्र में नायक के निम्नलिखित भेद माने गये हैं—

१ सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर—पति, उपपति, और वैशिक।

२ उपस्थ-परिमाण के आधार पर—शश, वृष और अश्व।[2]

३ भाव के आधार पर—मन्दवेग, मध्यवेग, और चण्डवेग।[3]

४ स्खलन-काल के आधार पर—शीघ्र, मध्य, और चिर।[4]

[illegible], [illegible] और [illegible] समान नायक-नायिका का सहयोग सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इन्हें समरत कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य रत विषम रत कहलाते हैं।[5] गुणों के आधार पर नायक-नायिकाओं के तीन और प्रकार परिलक्षित हैं—उत्तम, मध्यम, और अधम। उत्तम नायक में निम्नलिखित गुण माने गये हैं—[6]

१ उच्च कुल, २ विद्वत्ता, ३ कवित्व, ४ आख्यानकौशल, ५ वाग्मिता, ६ प्रतिभा, ७ विविध कलाओं में निपुणता, ८ तत्त्वदर्शिता, ९ वृद्धों का सम्मान करने की प्रवृत्ति, १० उच्च आशय, ११ महोत्साह, १२ दृढ़ प्रेम, १३ अनसूया, १४ त्याग, १५ मित्र-वत्सलता, १६ गोष्ठी, प्रेक्षणक, समाज, समस्याक्रीडा आदि में रुचि, १७ नीरोगता, १८ अव्यंग शरीर, १९ बल, २० मद्यपान न करना, २१ वृष, २२ स्त्रियों का प्रेम से पालन करने की प्रवृत्ति, २३ स्त्री के वशवर्ती न होना, २४ स्वतन्त्र वृत्ति, २५ दयालुता, २६ ईर्ष्या न करना और २७ निःशंकता।

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में इनमें से कतिपय नायक-नायिका भेदों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। ये नायक-नायिकाएँ उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न हैं, अतः उत्तम कोटि के हैं। प्रेमाख्यानों, भक्तिपरक रचनाओं और शृंगार-मुक्तकों में स्वकीया, परकीया और सामान्य

---

१ रतिरहस्य, अनंगरंग, पंचसायक आदि कामशास्त्रीय ग्रन्थों में इनके चार प्रकार निर्दिष्ट हैं। द्रष्टव्य रतिरहस्य १६.१०, अनंगरंग २१-२२, पंचसायक ११.१३।

२ कामसूत्र, २, १, १

३ वही, २, १, २६

४ वही, २, १, ८

५ वही, २, १, ४

६ वही, ६, १, १२

नायिकाएँ तथा पति, उपपति, और वैशिक नायक वर्णित हैं।

प्रीतिभेद

वात्स्यायन ने प्रीति के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—१ आभ्यासिकी, २ आभिमानिकी, ३ सम्प्रत्यात्मिका, और ४ विषयात्मिका। अभ्यास से उत्पन्न प्रीति आभ्यासिकी और संकल्पमात्र से उत्पन्न प्रीति आभिमानिकी कहलाती है। अपूर्व पुरुष या स्त्री में आरोपित पूर्व प्रीति को सम्प्रत्यात्मिका और मनोनुकूल विषयों के ग्रहण से उत्पन्न प्रीति को विषयात्मिका कहते हैं।[1]

रतोपचार

स्त्री पुरुष समागम का फल है क्षणजन्य आनन्द। वात्स्यायन का अभिमत है कि स्त्री तथा पुरुष की भावप्राप्ति अथवा रतिसुख में अन्तर नहीं होता। यद्यपि पुरुष कर्ता और स्त्री अधिकरण है, फिर भी उपायवैलक्षण्य और अभिमानवैलक्षण्य से रति सुख में भेद नहीं होता।[2] रतिसुख स्त्री तथा पुरुष के परस्पर सहयोग पर निर्भर करता है। इस सहयोग की प्राप्ति और रागवृद्धि के लिए विभिन्न रतोपचारों का प्रयोग किया जाता है। आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत, दन्तक्षत, प्रहणन-सीत्कार आदि रतोपचारों का शास्त्रीय वर्णन कामसूत्रकार ने किया है। इनके भेदों और संवेशन प्रकार को सम्प्रयोगाङ्गभूत चतुःषष्टि कहते हैं।

आलिंगन के निम्नलिखित भेदों का विवरण वात्स्यायन ने दिया है।[3]

१ सहवास पूर्व प्रेम प्रकाशित करने वाले—स्पृष्टक, विद्धक, उद्घृष्टक, और पीडितक।

२ सम्प्रयोगकालीन—लतावेष्टितक, वृक्षाधिरूढक, तिलतण्डुलक, और क्षीरनीरक।

३ एकांगोपगूहनचतुष्टय—ऊरूपगूहन, जघनोपगूहन, स्तनालिंगन, और ललाटिका।

वात्स्यायन ने चुम्बन के आठ स्थानों का उल्लेख किया है। पर वात्स्यायनोक्त ललाट, अलक, कपोल, नयन, वक्ष, स्तन, ओष्ठ, और अन्तर्मुख के अतिरिक्त गला, गण्डस्थल और ग्रीवा को भी चुम्बन-स्थान माना गया है। चुम्बन के निम्नोक्त

---

१ वही, २, १ ३६ ४४।

२ तेनोभयोरपि सदृशी सुखप्रतिपत्तिः।

—कामसूत्र, २, १, २९

३ वही, २, २, ६ २८

प्रकार है—[1]

१ क्रियाचुम्बन—निमित्तक, स्फुरितक, और घट्टितक।
२ ग्रहणचुम्बन—सम, तिर्यक, उद्भ्रान्त, और अवपीडितक।
३ स्थान पर आधारित—सम, पीडित, अचित, और मृदु।
४ अवस्था भेद पर आधारित—रागदीपन, चलितक, और प्रातिबोधिक।
५ आकारप्रदर्शनात्मक—छायाचुम्बन, सक्रान्तक चुम्बन, और हस्तागुलि चुम्बन अथवा पादागुलिचुम्बन।

अगर संवेशन के पूर्व राग अधिक बढ़ गया हो नायक नायिका एक दूसरे के अंगो पर नखाग्रो से क्षत करते है।[2] चण्डवेग नायक नखच्छेद्य का प्रयोग नित्य करते हैं पर मन्दवेग और मध्यवेग नायक प्रथम सहवास के समय, यात्रा को जाते समय या यात्रा से लौटने पर, स्त्री के क्रोधोपरान्त प्रसन्न होने पर और कामोन्मत्त होने पर करते हैं।[3] इसी अवस्था मे दन्तक्षत का भी प्रयोग होता है। नखक्षत के स्थान है—कक्षा, स्तन, गला, पीठ, जघन और उरु।[4] पर रतिचक्र में प्रवृत्त नायक नायिका को स्थान अस्थान का परिज्ञान नही रहता। कामसूत्र में नखो के गुणो का भी निर्देश किया गया है। नख अनुगतराजि, समाकार, उज्ज्वल, अमलिन अविपान्ति, वर्धिष्णु, मृदु और स्निग्ध दर्शी हो।[5] नखच्छेद्य के नौ भेद है—आच्छुरितक, अर्धचन्द्र, मण्डल रेखा, व्याघ्रनख, मयूरपदक, शशप्लुतक, उत्पलपत्रक और स्मरणीयक।[6]

उत्तरोष्ठ, अन्तर्मुख तथा नेत्र को छोड़कर अन्य सब चुम्बन स्थान दशनच्छेद्य के भी स्थान हैं। दांत सम, स्निग्धच्छाया रागग्राही, युक्तप्रमाण निश्छिद्र तथा तीक्ष्णाग्र हो।[7] दन्तक्षत के आठ प्रकार है—गूढक, उच्छूनक, बिन्दु, बिन्दुमाला, प्रवालमणि, मणिमाला, खण्डाभ्रक, और वराहचर्वित।[8]

सुरत कलहरूप है वह एक तरह का कृतकसग्राम है।[9] काम स्वभाव से ही वाम

---

१ कामसूत्र, २, ३, १ ३१
२ वही, २, ४, १
३ वही, २, ४, २
४ वही, २, ४ ५
५ वही, २, ४, ८
६ वही, २, ४,४
७ वही, २, ५, २
८ वही, २ ५, ४
९ वही २, ७, १

है, विवादात्मक है। सुरत में प्रहणन-सीत्कारों का प्रयोग इसका प्रमाण है। प्रहणन सीत्कार सम्प्रयोग के सहचर हैं। उसमें प्रहणन, जो अन्यथा दुःखकारी एवं द्वेषजनक होता है, सुखकारी तथा रागवर्धक बनता है। स्कन्ध, शिर, स्तनान्तर, पीठ, जघन एवं पार्श्व प्रहणन-स्थान हैं।[1] प्रहणन सीत्कार का हेतु है। उसका दुःख अनेकों मुख ध्वनियों के द्वारा व्यक्त होता है। इन मुखध्वनियों को सीत्कार कहते हैं। स्त्री भाव प्राप्ति के समय भी सीत्कार करती है। प्रणहन के चार भेद हैं—अपहस्तक, प्रसृतक, मुष्टि और समतलक।[2] सीत्कार सात प्रकार के होते हैं—हिंकार, स्तनित, कूजित, रुदित, सूत्कृत, दूत्कृत और फूत्कृत। अम्बार्थक, वारणार्थक, मोक्षणार्थक, एवं अलमर्थक शब्दों का भी स्त्री प्रयोग करती है।[3]

कठोरता, धृष्टता और साहस पुरुष के स्वाभाविक धर्म हैं और स्त्री के स्वाभाविक गुण हैं दुर्बलता, कोमलता और असमर्थता।[4] इस कारण प्रायः प्रहणन का प्रयोग पुरुष करता है और सीत्कार का स्त्री। किन्तु राग की अतिवृद्धि होने पर स्त्री भी पुरुषवत् व्यवहार करती है। जब वह अपने अबलत्व के प्रतिकूल पुरुष के समान रति में प्रवृत्त होती है, पुरुष का स्थान ग्रहण करती है तब उस रति को पुरुषायित अथवा विपरीत रति कहते हैं। वह पुरुष के जिन उपसृप्तों का विपरीत रति में प्रयोग करती वे पुम्पोपसृप्त कहलाते हैं। काम की वामशीलता पुरुषायित में ही यथार्थ में व्यक्त होती है। पुरुषायित का प्रयोग तीन स्थितियों में होता है। १ बार-बार सहवास करने पर जब पुरुष परिश्रान्त और शिथिल हो जाता है और स्त्री का कामोपशमन नहीं होता, २ स्त्री जब अपनी इच्छा से विकल्पयोजना करना चाहती है, और ३ पुरुष को जब विपरीत रति में कुतूहल होता है।[5] पुरुषायित में स्त्री के बालों में गुँथे हुए फूल बिखर जाते हैं। उसका हास्य श्वास के कारण खण्डित होता जाता है। नायक के मुखसंसर्गार्थ वह अपने पयोधरों से पुरुष के वक्ष को दबाती है और सिर नवाकर पुरुष जैसी चेष्टाएँ करती है।[6]

---

१ कामसूत्र, २, ७, २

२ वही, २, ७, ३

३ वही, २, ७, ४-२१।

४ पारुष्यं रभसत्वं च पौरुषं तेज उच्यते।
अशक्तिरार्तिर्व्यावृत्तिरबलत्वं च योषितः॥
—कामसूत्र, २, ७, २२

५ वही, २, ८, १-३

६ वही, २, ८, ६

देश तथा प्रकृति के अनुकूल आलिंगनादि उपचारो म कामोत्तेजित होने पर स्त्री पुरुप सवेशन योग्य बनते ह। साधन और सबाध का सम्यक सयोग ही सवेशन है। यही आभ्यतर सम्प्रयोग कहलाता है। कामसूत्र का यह सारभूत अग है। समस्त काम चेष्टाओ की परिणति इसी म होती है। रतिसुख की निष्पत्ति इसी स होती है। उच्चरत में उरुओ को विवृत्त, नीचरत में सवृत्त और समरत म समपृष्ठ रखने से सम्यक सवेशन सम्भव होता है। उच्चरत म मगी के लिए उत्फुल्लक विजम्भितक और इद्राणिक आसनवधो का विधान है।[1] नीच तथा नीचतर रत म सम्पुटक पीडितक, वेष्टितक तथा वाडवक करणबध उचित माने गये ह।[2] इनके अतिरिक्त सुवणनाभ ने दस करण बधो का विवरण दिया है जिसके नाम इस प्रकार है—भुग्नक, जम्भितक उत्पीडितक, अधपीडितक, वेणुदारित, शूलाचितक, कार्कटक, पीडितक, पद्मासन और परावृत्तक। ये बध पचविध होते है।—उत्तानक, तियक, आसितक, स्थित और आनत।[3]

वाछित रतिसुख की प्राप्ति में रतारम्भ और रतावसान की क्रियाएँ भी महत्त्व पूर्ण है। नागरक का रतिसदन पुष्पहारो से विभूषित धूप से सुरभित तथा प्रसाधित हो वात्स्यायन का कथन है कि नागरक अपने रमणीय शयन मदिर म जाकर सत्य स्नात और वस्त्रालकारो से विभूषित स्त्री की दाहिनी ओर बैठे और उसस मद्यपान करने को कहे। इस रतारम्भ में प्रिय तथा मधुर वचन, नृत्य गान, ताम्बूलदान, और फिर एकान्त म आलिंगनादि रतिक्रीडा के बाद नीवीविश्लेपण की यथाक्रम करने का परामर्श उन्होने दिया है।[4] रतावसान म निम्नलिखित व्यापार रागसवधक माने गये ह।[5]

१ नायक स्वय नायिका के शरीर म चदनादि का अनुलेपन करे।
२ उसका आलिंगन कर उसे मद्य पिलाये तथा जलपान कराये।
३ हर्म्यतल पर चाँदनी म मीठी बातें करे और अरुधती ध्रुव सप्तर्षि आदि दिखाये।
४ राग भेद से रत के निम्नोक्त सात भेद होते ह[6]—

१ रागवत—प्रथम साक्षात्कार म ही रागवृद्धि हो और प्रयत्नसाध्य समागम हो अथवा विदेश से लौटने पर या कलह शात होने पर सयोग हो तो उसे रागवत् रत कहते ह।

---

१ कामसूत्र, २ ६, १ १२।
२ वही, २, ६, १३ २२
३ वही, २, ६, २३ ३५
४ वही, २, ६, तथा २, १० १६
५ वही, २ १०, ६ ६
६ वही, २ १०, १८ २६।

२ आहाय—मध्यम राग से सयोग आहाय रत कहलाता है।

३ कृत्रिम रत—नायक-नायिका की आसक्ति दूसरी ओर होने पर भी जब प्रयोजनवश वे सहवास करते हैं तब वह कृत्रिम राग कहलाता है।

४ व्यवहित—पुरुष अपनी अन्य प्रेमिका और स्त्री अपने अन्य प्रेमी का स्मरण कर जब मिलते हैं तब वह रत व्यवहित कहलाता है।

५ पोटारत—निम्न कोटि की कुम्भदासी अथवा परिचारिका के साथ सहवास पोटारत है।

६ खलरत—वेश्या का ग्रामीण के साथ और नागरक का ग्रामस्त्री के साथ सहवास खलरत कहलाता है।

७ अयन्त्रित रत—एक दूसरे के विश्वासभाजन बने स्त्री-पुरुष का परस्परानुकूल रत अयन्त्रित रत कहलाता है।

सुरतकालीन प्रणयकलह का भी वर्णन वात्स्यायन ने किया है। नायक के द्वारा सपत्नी नाम ग्रहण, सपत्नी चर्चा तथा गोत्रस्खलित होने पर नायिका मान प्रकट करती है और कलह के लिए प्रवृत्त होती है। वह रोती है, माला को बिखेर देती है, छाती पीट लेती है, माल्यभूषण को उतार कर फेंक देती है और जमीन पर सोती है। नायक उसका मानमोचन मधुर वचन तथा पादपतन से करता है।[1]

सूफी तथा असूफी प्रेमगाथाओं में कामसूत्रोक्त रतोपचारों ही का नहीं अपितु सुरत और पुरुषायित का भी खुलकर वर्णन किया गया है। कृष्ण भक्तों ने कामोपचारों, सुरतकेलियों और विपरीत रति के चित्र तिरस्कोच रूप से अंकित किये हैं। उत्तर-मध्यकाल के परम्परानिष्ठ कवि तो इन्हीं का चित्रण करना अपना ध्येय मानते हैं। कामसूत्रीय सम्प्रयोगविधाओं के प्रचुर उदाहरण मध्यकालीन हिंदी काव्य में मिलते हैं।

वैवाहिक जीवन

कामशास्त्र के दो अंग हैं—१ तन्त्र, और २ अवाप। बाह्य तथा आभ्यन्तर का विवरण तन्त्र कहलाता है। पर बिना स्त्री की प्राप्ति के सम्प्रयोग सम्भव नहीं। अतः स्त्री की प्राप्ति के उपायों का वर्णन भी कामशास्त्र में किया जाता है। इसको अवाप कहते हैं। अवाप में विवाह का प्रधान स्थान है। वात्स्यायन ऐसी कन्या से विवाह करने का परामर्श देते हैं जो सवर्णा और अनन्यपूर्वा हो।[2] विवाह अगर धर्मशास्त्रविहित हो तो

---

१ तत्र कुसुम-कलहो रतिमायातः शिरोरूहाणामवरोदन प्रहणमाननात्स्वयनादा महा पतन माल्यभूषणापमोचनो भूमौ शय्या च। —कामसूत्र, २, १०, २८

२ वही ३, १, १

धम, अर्थ तथा सम्बन्ध की वृद्धि भी होती है और अकृत्रिम रति की प्राप्ति भी।[1] वात्स्यायन ने धमशास्त्र का अनुसरण करते हुए विवाहयोग्य कन्या के लक्षण दिये है।[2] कन्यावरण में मित्रो और दैवचिन्तका की सहायता अपेक्षित है। वात्स्यायन देश तथा प्रकृति के अनुकूल ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष अथवा दैव विवाह को शास्त्रविहित मानते है। उनका कथन है कि समस्यादि क्रीडाएँ, मित्रता तथा विवाह समाना म ही करना उचित है।[3] आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह से गान्धर्व विवाह को वे श्रेष्ठ मानते है क्योकि वह प्रेमप्रधान सुखद एव अल्पक्लेशसाध्य होता है।[4]

वात्स्यायन ने धमशास्त्र के तत्त्वा, स्त्री पुरुष की स्वाभाविक भिन्नताओ और लोकाचारो का दृष्टिपथ मे रखकर कन्याविस्रम्भण का विवेचन किया है। धमशास्त्र का अनुसरण करते हुए व कहते हैं कि पुरुष विवाह के बाद तीन दिन ब्रह्मचय का पालन करे, नमकीन तथा क्षारयुक्त भोजन न करे।[5] स्त्री कुसुम के समान कोमल होती है, अत पति मृदु उपचार करे। अविस्रब्धा नवोढा पर बलात्कार करने से वह सम्प्रयोगद्वेषिणी बनती है।[6] अत प्रथम रात्रि में उपचाल्लस्पश ताम्बूलदान, प्रेमपूण वचन आदि उपक्रमा से स्त्री के मन में विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। दूसरी तथा तीसरी रात्रि को विस्रब्धा के कण्ठ, ऊरु, जघन आदि अगो का स्पश, वराग को सहलाना, रशनावियोजन, नीवीमोक्षण आदि उपक्रम करने चाहिए। प्रथम तीन रात्रियो में पति नवोढा को कामकला सिखाये, पूवकालिक मनोरथो का वणन करे और भविष्य में उसके अनुकूल आचरण करने की प्रतिज्ञा करे। विवाह की सफलता और रतिसुख की प्राप्ति का यही मूल तत्त्व है।[7]

---

१ कामसूत्र

२ तस्मात्कन्या अभिजनोपपन्ना मातापितृमती त्रिवर्षात्प्रभृति न्यूनवयस श्लाघ्याचारे धनवति पक्षवति कुले सबन्धिप्रिये सबन्धिभिराकुले प्रसूता प्रभूतमातृपितृपक्षा रूपशीललक्षणसम्पन्नाम् अन्यूनाधिकाविनष्टदन्तनखकर्णकेशाक्षिस्तनीमरोगिप्रकृतिशरीरा तथाविध एव श्रुतवान् शीलयेत्। —वही, ३, १, २

३ समस्याया सहक्रीडा विवाहा सगतानि च।
समानैरेव कार्याणि नोत्तमैर्नापि वाधमै ॥ —वही, ३, १, २०

४ वही, ३, ५ २९ ३०

५ सगतयोस्त्रिरात्रमध शय्या ब्रह्मचय क्षारलवणवजमाहार । वही, ३, २, १

६ कुसुमसधमाणो हि योषित सुकुमारोपक्रमा । तास्त्वनधिगतविश्वासै प्रसभमुपक्रम्यमाणा सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवन्ति। —वही, ३, २, ६

७ वही, ३, २, ७ २९

परिवार एक सामाजिक इकाई है और पति-पत्नी के समुचित परस्पर-व्यवहार पर इसकी सुचारुता और सुख निर्भर है। अतः वात्स्यायन ने पत्नी के दायित्वों का निर्देश किया है। पत्नी या तो एकचारिणी होती है या सपत्निका। एकचारिणी के निम्नलिखित दायित्व है—

१ वह पति की विश्वासपात्र बने और पति को देवता मानकर उसके अनुकूल आचरण करे।

२ पति की अनुमति से वह कुटुम्बचिन्ता का भार स्वयं स्वीकार करे।

३ वह घर को पवित्र और स्वच्छ रखे, आँगन को सुकोमल और सुन्दर बनाये, और देवमन्दिर में पूजा का उचित प्रबंध करे।

४ गुरुजनों और सम्बन्धियों का उचित सम्मान करे।

५ भिक्षुणी, श्रवणा, क्षपणका, कुलटा, कुहकेक्षणिका और मूलकारिका से सम्पर्क न रखे।

६ पति की रुचि और पथ्यापथ्य का ध्यान रखकर भोजन का प्रबंध करे, पति के गृहागमन पर स्वयं उसके चरण धोये, और पति के सामने अलंकार विहीन होकर न जाये।

७ पति की इच्छा के अनुकूल उपवास, क्रीड़ा आदि करे।

८ पति के सो जाने पर सोये और उसके जागने से पहले जागे।

९ पति यदि अत्यधिक व्यय या असद्व्यय करे तो उसे समझाये, पर उसके अप्रिय करने पर भी उसकी भर्त्सना न करे।

१० पति के प्रवासगमन पर शृंगार न करे।[1]

हिन्दू समाज बहुभार्यात्व को धर्मविरोधी नहीं मानता था। सपत्निकाओं के परस्पर सहानुभाव से ही बहुपत्नीक के परिवार की गृहकलह से रक्षा हो सकती थी। अतः वात्स्यायन ने ज्येष्ठा, कनिष्ठा, पुनर्भू तथा दुर्भगा के कर्तव्यों का भी निर्देश किया है।[2]

परकीया रति

परदारा परकीया नायिका है। वास्तव में परदारगमन धर्मार्थ के विरुद्ध अतएव निषिद्ध है। फिर भी वात्स्यायन ने पारदारिक लिखा है। उन्होंने इसका प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लिखा है कि व्यभिचारी लोगों के अभियोगों को जानकर पुरुष अपनी पत्नी की

---

१ कामसूत्र, ४, १, १४८

२ वही, ४, २, १५४

पातिव्रत की रक्षा करे।[1] वे परदारगमन का समर्थन नहीं करते। उनका कथन है कि पुरुष पर-स्त्रीगमन तभी करे जब बिना उसके शरीर की रक्षा करना असम्भव हो।[2]

इस संदर्भ में वात्स्यायन ने काम की दस दशाओं का यथाक्रम निर्देश किया है।[3] साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से ये महत्त्वपूर्ण हैं। समस्त कामातुर स्त्री-पुरुषों में ये पायी जाती हैं। ये केवल पूर्वराग से ही सम्बन्धित नहीं हैं। इनका क्रम इस प्रकार है—

१ चक्षु प्रीति—प्रथम दर्शन में ही प्रेम का उद्भव।
२ मन संग—काम विषय में मन की आसक्ति।
३ संकल्पोत्पत्ति—उसकी प्राप्ति की चिन्ता।
४ निद्राच्छेद—इस चिन्ता में सदा घुलते रहने के कारण नींद न आना।
५ तनुता—घुल घुल कर दुर्बल होना।
६ विषयव्यावृत्ति—किसी अन्य विषय में रुचि न रखना।
७ लज्जाप्रणाश—लोकमर्यादा और लज्जा का त्याग।
८ उन्माद—पागल का सा आचरण करना।
९ मूर्च्छा—कामाधिक्य से चेतना खो देना।
१० मरण—मृत की सी अवस्था होना।

पुरुष सुन्दर स्त्री को देखकर आसक्त हो जाता है और स्त्री उज्ज्वल पुरुष को देख कर कामातुर हो जाती है। किन्तु स्त्री की विशेषता यह है कि वह धर्माधर्म की परवाह नहीं करती।[4] कामी प्रथम परकीया से परिचय बढाता है। स्त्री के आकारों और इंगितों को जानकर उसकी प्राप्ति का अभियोग करता है। पर जब वह स्वयं उसे प्राप्त नहीं कर सकता तब दूती को नियुक्त करता है। दूती नायिका की प्रशंसा कर उसे

---

३ सहस्य शास्त्रतो योगा पारदारिकलक्षिताम्।
न यातिच्छलना कश्चित्स्वदारान् प्रति शास्त्रवित्॥
तदेतद्दारगुप्त्यर्थमारब्ध श्रेयसे नृणाम्। —कामसूत्र, ५, ६, ४६, ४८

४ वही, ५, १, ३

१ दश तु कामस्य स्थानानि। —वही, ५, १, ४, ५

२ य केचिदुज्ज्वल पुरुष दृष्ट्वा स्त्री कामयते। तथा पुरुषोऽपि योषितम्।
तत्र स्त्रियं प्रति विशेष।
न स्त्री धर्ममधर्म चापेक्षते कामयत एव। कार्यापेक्षया तु नाभियुङ्क्ते।
—वही, ५, १, ८, ९ १०

अपने वश में कर लेती हैं, अहल्या, अविमारक, शकुन्तला आदि की प्रेमकथाएँ सुनाकर और नायक के गुणों का वर्णन कर उसे नायक के प्रति आकृष्ट करती है।[1]

वात्स्यायन ने दूतियों के निम्नलिखित आठ भेद दिये हैं—[2]

१ निसृष्टार्था—नायक-नायिका के मन्तव्य को जानकर अपनी बुद्धि से कार्य सम्पादन करने वाली।

२ परिमितार्था—अभियोग के एक अंश को जानकर शेष कार्य की पूर्ति करनेवाली।

३ पत्रहारी—नायक-नायिका का सन्देश एक दूसरे के पास पहुँचाने वाली।

४ स्वयं दूती—जो स्वयं ही नायिका बन जाती है।

५ मूढ़दूती—नायक की मुग्धा नायिका की विश्वासपात्र बनकर, उसे काम कला सिखाकर और स्वयं उसके अंगों में नखक्षत तथा दन्तक्षत करके नायक को अपनी ओर आकर्षित करने वाली।

६ भार्यादूती—नायक की प्रेमिका के पास स्वयं दूती बन कर जाने वाली नायक-पत्नी।

७ मूकदूती—नायिका के पास सन्देशवाहिका बनकर जाने वाली भोली भाली अल्पवयस्का दासी अथवा बालिका।

८ वातदूती—नायक का सांकेतिक वचन उदासीन होकर सुनाने वाली तथा नायिका का उत्तर उसी रूप में लाने वाली।

वेश्यावृत्त

अन्य नायिकाएँ स्वयं पुरुष की प्राप्ति के उपाय नहीं करतीं। वेश्या स्वयं से उपाय करती है। अन्य नायिकाएं विशुद्ध रागपरा होती है, पर वेश्या रागपरा और अर्थपरा भी। वेश्या में रति और वृत्ति दोनों जन्मना होती है।[3] रतिप्राप्ति के लिए उसका प्रवर्तन स्वाभाविक और अर्थप्राप्ति के लिए कृत्रिम माना गया है। वेश्या एक पण्यवस्तु है, अतः उसे साज शृंगार करके राजमार्ग की ओर इस तरह देखना चाहिए कि लोग उसे देख सकें, पर वह अतिविवृता होकर न बैठे।[4] उसके सहायक पुरुष भी उसकी ओर आकृष्ट करते हैं उसके अनर्थों को दूर करते हैं। अर्थप्राप्ति की इच्छा से वह धनवान् से

१ कामसूत्र, ५, ४, २ २६

२ वही, ५, ४, ४५ ६२

३ वेश्याना पुरुषाधिगमे रतिवृत्तिश्च सर्गात्। —वही, ६, १,१

४ वही, ६, १, ७

ससग करती है, पर यश तथा प्रीति के उद्देश्य स गुणी पुरुष से। नायक के रजनाथ कभी वह एकचारिणीवृत्त का अनुसरण करती है।[४]

मध्यकालीन हिंदी कवियों न अपने वियोग-वणन में प्राय सभी कामदशाओं का अकन किया है। सूफी प्रेमगाथाएँ और सूर के पदा म इनकी हृदयग्राही व्यजना हुई है। 'यूसुफ जुलेखा' 'चान्दायन' तथा 'रूपमजरी' की नायिकाए परकीया हैं पर 'माधवानलकामकन्दला' की नायिका वश्या। कामकन्दला कान्तानुवृत्त का आचरण करती हुई प्रतीत होती है। 'छिताई-वार्ता' का खलनायक दूतियो की सहायता से परपरिगृहीता को प्राप्त करने का प्रयास करता है। कृष्ण-काव्य तथा शृगार काव्य में दूतियों की चतुरता मार्मिक ढग से वर्णित है। इस प्रकार कामसूत्रकथित अनेकों तत्वो का प्रतिफलन मध्यकालीन काव्य म लक्षित होता है।

औपनिषदिक

कामसूत्र के प्रथम छह अधिकरणो में तन्त्र तथा अवाप का विश्लेषण हुआ है। अत औपनिषदिक अधिकरण के प्रथम सूत्र म यह स्पष्ट होता है कि कामसूत्र यहाँ समाप्त हुआ। पर पूर्वोक्त विधियो से भी अभीष्ट की प्राप्ति न हुई हो तो वात्स्यायन औपनिषदिक म वर्णित विधियो का प्रयोग करने की सलाह देते है। इस अधिकरण म छह प्रकरण है—

१ सुभगकरण, जिसमें सौन्दयवृद्धि के उपाय दिये ह, २ वशीकरण, जिसम रहस्यात्मक उपायो से प्रयोज्या को वशीभूत करने के उपाय उल्लिखित है, ३ वाजीकरण, जिसम वीयवृद्धि के उपायो का वणन है, ४ नष्टरागप्रत्यानयन, जिसमें चण्डवेग को प्रसन्न करने की विधियाँ ह, ५ वृद्धिविधि म मदनाकुश को बढाने के उपाय है, और ६ चित्र योग, जिसम आयु की वृद्धि के उपाय है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित तथ्य निस्सृत होते है—

१ कामशास्त्र का मूलस्रोत वैदिक साहित्य में मिलता है।

२ वात्स्यायन ने पूववर्ती कामशास्त्रकारो के विचारो का केवल सकलन नही किया, अपितु अपनी मौलिक सूझ-बूझ के द्वारा नये सिद्धान्तो का आविष्कार भी किया। उनके विचारो स प्रेरणा ग्रहण कर परवर्ती कामशास्त्रकारो ने कामसूत्र ही का अनुसरण किया। अत कामशास्त्र की परम्परा में कामसूत्र का स्थान सर्वोपरि है।

---

४ कामसूत्र, ६, २ १

३ कामसूत्र एक वैज्ञानिक रचना है जिसमें वस्तुपरक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। फिर भी जीवन के आमुष्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन के प्रति वात्स्यायन सजग है। अतः उन्होंने धर्म और अर्थ के अविरोधी काम ही को स्वीकृति प्रदान की है।

४ कामसूत्र का प्रयोजन व्यभिचार का प्रचार करना नहीं है, बल्कि काम-वृत्ति को सन्तुलित बनाना तथा व्यक्ति तथा समाज के विकास की दिशा प्रवर्तित करना है।

५ काम भाव की समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक विवेचना करते हुए उन्होंने भारतीय संस्कृति के उदात्ततम तत्त्वों का अनुसरण करने की शिक्षा दी है।

६ कामसूत्र में प्रधान रूप से तीन विषयों का विवेचन प्राप्य है—१ काम का स्वरूप, २ रत्यानन्द, और ३ अनुचित कामाचरण। वात्स्यायन ने काम की व्यापक परिभाषा देकर काम-स्वरूप का शास्त्रीय शैली में विश्लेषण किया है। दूसरे विषय के अन्तर्गत समस्त रतोपचार सुरत, नायक-नायिका भेद, विवाहयोग, कन्याविस्रम्भण और भार्याधिकारिक ज्ञान हैं। तीसरे विषय से सम्बद्ध अन्तिम तीन अधिकरण—पारदारिक, वैशिक एवं औपनिषदिक—हैं।

७ साहित्य के अनुशीलन में कामसूत्रीय तत्त्वों की उपादेयता असन्दिग्ध है। नागरकवृत्त, नायक-नायिका भेद, रतोपचार, कन्याविस्रम्भण, पारदारिक, वैशिक, कामदशाएँ आदि से सम्बन्धित कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिफलन मध्यकालीन हिन्दी काव्य में हुआ है, जिसका संकेत इस अध्याय में स्थान स्थान पर किया गया है।

□□

द्वितीय अध्याय

फ्रायड के सिद्धात

फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धात विश्व सभ्यता को आधुनिक युग की महत्त्व पूर्ण देन है, जिसके स्वरूप को समझने पर ही आधुनिक चिंता धारा के विकास को पूरी तरह ग्रहण करना सम्भव है। फ्रायड क प्रौढ मस्तिष्क की इस उपलब्धि ने हमारी परम्पराप्राप्त और पूर्वनिर्धारित धारणा को झकझोर दिया। मनोविश्लेषण एक भूचाल की तरह आया और उसने हमारे पुराने विचारो के मजबूत गढो को यद्यपि ढहाया नही फिर भी उनम ऐसा दरारें पदा कर दी जिनके पाटने में हम असमर्थता अनुभव करने लगे। इस अतलस्पर्शी सिद्धान ने समस्त सतही विचारो म हडकम्प मचाया। अपनी इन धारणाओ की दीवारो म सुखपूवक सुरक्षा का अनुभव करनेवाले मनोवैज्ञानिको को ही इसने आतकित नही किया अपितु दकियानूसी डाक्टरो, पुराणपथी धममातण्डो, समाजनैतिको नृतत्त्ववेत्ताओ और सौदयशास्त्रियो को भी। मनोविश्लेषण के सवस्पर्शित्व के कारण फ्रायड को मार्क्स तथा आइन्स्टीन के समान नव्य युग के सास्कृतिक इतिहास की धरोहर माना जाता है।[१]

फ्रायड क सिद्धाता को उनके जीवन क परिप्रेक्ष्य में परखने का प्रयत्न जोन्स, विटल्स, सैक्स् आदि ने किया है। स्वय फ्रायड ने अपने जीवन की उन घटनाओं का उल्लेख अपनी रचनाओ म किया है जो उनके कार्यों और सिद्धाता को निर्धारित करने म निर्णायक बनी। डा० वाय मसीह का कथन है कि फ्रायड की विपदाएँ मनोविश्लेषण के निर्माण म वरदान सिद्ध हुइ।[२] अपनी दमित जननी-आसक्ति और जनक-द्वेष पर विजय पाकर फ्रायड ने उनका पुनगठन किया और इसम मनोविश्लेषण का निर्माण सम्भव

---

१ This was a man whose name will always rank with those of Darwin Copernicus, Newton Marx and Einstein, someone who really made a difference to the way the rest of us can begin to think about the meaning of human life and society'

David Stafford Clark What Freud Really Said, A Pelican Book, p 16

२ Dr Y Masih Freudianism and Religion, p 33

हुआ।[1] आत्मविश्लेषण की उनकी उपलब्धियों को मनश्चिकित्सा द्वारा प्राप्त तथ्यों ने प्रमाणित किया। फ्रायड के सिद्धांतों का मूलस्रोत उनके व्यक्तिगत जीवन में प्राप्त होता है। अतः कई आलोचक मनोविश्लेषण को फ्रायड के वैयक्तिक भावों का प्रक्षेपणमात्र मानकर उसे कल्पनाप्रसूत और अवैज्ञानिक मानते हैं। जेस्ट्रो का कथन है कि फ्रायड की रचनाएँ वैज्ञानिक क्षमता और बौद्धिक जिज्ञासा की उपज नहीं है, वस्तुतः वे जीवन के गुरुतर तत्त्वों के प्रति फ्रायड के द्वेष का उपफल हैं।[2] डा० फ्लीस ने भी कहा था कि फ्रायड अपने निजी विचार अपने रोगियों में पढ़ते हैं।[3] पर कई मनोविश्लेषकों ने फ्रायड के सिद्धांतों को वैज्ञानिक और वस्तुपरक माना है। वास्तव में फ्रायड मनश्चिकित्सक और वैज्ञानिक थे और उनमें अपने निजी भावों और अनुभवों का वैज्ञानिक की वस्तुपरक दृष्टि से विश्लेषण करने की अद्भुत क्षमता थी। इसी कारण अपनी मनोविकृतियों से छुटकारा पाकर वे मनोविश्लेषण की नींव डाल सके।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विकसित वैज्ञानिक विचारधारा से फ्रायड प्रभावित थे। डार्विन ने मनुष्य को प्राणिजगत् का सदस्य मानकर उसे प्राकृतिक अध्ययन का विषय बनाया। लुई पाश्चर और मेंडल की खोजों ने जैविकी के विकास में महत्त्व

---

१ 'He had discovered in himself the passion for his mother and jealousy of his father, he felt sure that this was a general human characteristic and that from it one could understand the powerful effect of the Oedipus legend'

—E Jones The Life and Work of Sigmund Freud, A Pelican Book, p 282

२ 'Freud and his works are the product not of a scientific talent and intellectual curiosity, but in essence a by product of Freud's personal hate of all that is superior, joyous, free'

—Jastrow Freud, His Dream and Theories, A Permabook Edition, p 248

३ 'What is certain is that he (Fliess) responded perhaps to some criticism of the periodic laws by Freud, by saying that Freud was only a 'thought reader' and more—that he read his own thoughts into his patients

—E Jones The Life and Work of Sigmund Freud, p 271

पूर्ण योग दिया। हेमहोलस ने ऊर्जा के अनश्यता सिद्धात तथा आइन्स्टीन के सापेक्षता सिद्धान के द्वारा भौतिकी ने विश्व के बाह्य जीवन म ही नही अन्तर्जीवन में भी क्रांतिकारी परिवतन उपस्थित किया। जमनी के विख्यात मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक फेक्नर ने मन को परिमाणात्मक रूप में मापने की सम्भावना बताई। जविकी और भौतिकी के इन नये आविष्कारो ने फ्रायड को प्रभावित किया। पर फ्रायड पर प्रत्यक्ष रूप स प्रभाव पड़ा अर्न्स्ट ब्रुके के इस सिद्धात का कि जीवपिण्ड पर रसायन और भौतिकी के सिद्धात व्यवहृत होते ह।[1] काल ब्रूल द्वारा पठित गेटे के प्रकृतिसम्बन्धी निबन्ध से भी युवा फ्रायड ने प्रेरणा ग्रहण की।[2] फ्रायड के गत्यात्मक मनोविज्ञान ने इन प्रभावो को आत्मीकृत कर मनुष्य के व्यक्तित्व की नयी व्याख्या प्रस्तुत की।

फ्रायड ने अनिच्छा से ही चिकित्सा व्यवसाय अपनाया था, उनकी रुचि वास्तव में सस्कृति की समस्याओं के विश्लेषण में थी। पर इस व्यवसाय को अगर वे न अपनाते तो शायद उपचारालयीन निरीक्षण क अभाव में गत्यात्मक मनोविज्ञान की सृष्टि न हुई होती। फ्रायड चिकित्सा और उपचार की सीमाओ में बँधे नही रहे। उन्होने एक दार्शनिक की तरह धम, सस्कृति, कला आदि का विश्लेषण कर मनोविज्ञान को विज्ञानो की रानी का पद प्रदान किया।[3]

मनोविश्लेषण का स्वरूप

'मनोविश्लेषण का प्रयोग प्राय तीन अर्थों म किया जाता है—१ मनश्चिकित्सा प्रविधि, २ अपसामान्य मनोविज्ञान की शाखा, और ३ फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धात। मनश्चिकित्सा प्रविधि कायचिकित्सा पद्धति से सवथा भिन्न है। कायचिकित्सक जीवपिण्ड के व्यापार को मूलत शारीरिक और अविकीय मानता है और उसकी व्याख्या रसायन तथा भौतिकी के आधार पर करता है।[4] पर फ्रायड मानसिक विकृति का उद्भव रोगी के जीवन म घटित ऐसे विक्षोभक अनुभव स मानते है जो उसके व्यक्तित्व को असन्तुलित और विघटित कर देता है। इससे जो प्रवृत्तियाँ दमित हो जाती है, उनके प्रकाशन से ही रोगी पुन स्वास्थ्य प्राप्त कर सकता है। रोगी को इन दमित वासनाओ और इच्छाओ को प्रकाशित करने की प्रेरणा देने के लिए फ्रायड ने सम्मोहन पद्धति

---

१ कैल्विन एस् हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका, रूपान्तरकार बी० डी० भट्ट, १९५९, पृष्ठ ४८

२ Puner Freud, His Life and His Mind, Lairel Edition, p 48

३ Philip Rieff Freud The mind of the Moralist p 3

४ देवेन्द्रकुमार वेदालकार फ्रायड मनोविश्लेषण, १९६०, पृ० १४

अपनायी। सम्मोहन पद्धति वास्तव म विरेचन पद्धति का वह रूप है जिसम सम्मोहित व्यक्ति उसी विक्षोभ को पुन अनुभव करता है जो उसके अस्वास्थ्य कारण होता है। उसके प्रकाशन का फल है विक्षोभ का उपशमन। पर सम्मोहन पद्धति म कई त्रुटियाँ होती है। हर व्यक्ति को सम्मोहित नही किया जा सकता, और सम्मोहन पद्धति द्वारा प्राप्त स्वास्थ्य स्थायी नही होता। इस कारण फ्रायड ने वर्नहीम स प्रभावित होकर मुक्त आसग पद्धति अपनायी। इसमें रोगी पर कोई बाह्य दबाव नही रहता। उचित-अनुचित सामाजिक-असामाजिक एव नैतिक-अनैतिक का ख्याल छोडकर रोगी अबाध रूप स अपने सब विचार प्रस्तुत करता जाता है। इन विचारो को रोगी के अतीत जीवन स सयोजित करना और उसके व्यक्तित्व को स तुलित कर उस परिस्थिति स समायोजन करने की सामर्थ्य प्रदान करना ही मनोविश्लेपक का लक्ष्य है।

इस पद्धति द्वारा प्राप्त तथ्यो के आधार पर फ्रायड ने अपसामान्य रोगियो की मानसिक विकृतियो का निवचन किया और अपनी उपसकल्पनाओ को नये मनोवैज्ञानिक सिद्धातो के रूप म प्रस्तुत किया। फ्रायड के ये सिद्धात अपसामान्यो की मनश्चिकित्सा पर आधारित है, अत मनोविश्लेषण अपसामान्य मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र माना जाता है। पर सामान्य और अपसामान्यो के मानसिक सगठन में केवल स्थिति भेद पाया जाता है, गुण भेद नही। अत मनोविश्लेषण को सामान्य मनोविज्ञान का एक सम्प्रदाय मानना ही उचित है।[1] आज मनोविश्लेषण फ्रायडवाद का पर्यायवाची बन गया है। फ्रायड ने मन के सभी अगो का सूक्ष्मता क साथ उद्घाटन कर मनुष्य के व्यक्तित्व और कार्यकलापो की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। फ्रायड के सिद्धाता का वर्गीकरण साधारणत निम्नोक्त रूप में किया जाता है—

१ स्नायुविकृति चिकित्सा पर आधारित सिद्धात,
२ मूलभूत मनोवैज्ञानिक सिद्धात, और
३ सस्कृति, कला, धर्म आदि के सम्बन्ध में उनके तात्त्विक निष्कर्ष।[2]

मन का क्षेत्रीय स्वरूप

फ्रायड ने मन का मानचित्र देकर उसके तीन रूपो का विवरण दिया है—१ चेतन, २ पूर्वचेतन, और ३ अवचेतन। फ्रायड पूर्व मनोवैज्ञानिक केवल चेतन अश की व्याख्या करना अपना लक्ष्य समझते थे। पर इसके विपरीत फ्रायड ने अवचेतन के

१ 'स्वय फ्रायड मनोविश्लेषण को प्रमुख रूप स मनोविज्ञान का ही एक अग मानता था, न कि असामान्य मनोविज्ञान या मनोविकारविज्ञान की शाखा मात्र।'
—कैल्विन हाल मनोविज्ञान प्रवेशिका, भूमिका, पृष्ठ ५

२ द्रष्टव्य, इस प्रबन्ध का तृतीय अध्याय।

विश्लेषण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। चेतना की व्याख्या से मन के केवल सहजज्ञेय अशो का स्वरूप जाना जा सकता है, पर मन के अज्ञात अशो का अन्वेषण करने पर ही व्यक्तित्व की पूरी व्याख्या की जा सकती है। जो स्मृतियाँ या प्रवृत्तियाँ थोड़ा प्रयत्न करने पर अन्तर्निरीक्षण के द्वारा चेतना मे लाई जा सकती है वे पूर्वचेतन में रहती हैं, किन्तु जो चेतना मे नही लाई जा सकती वे अवचेतन मे निवास करती हैं। वास्तव मे चेतना का क्षेत्र बहुत सीमित होता है, पूर्वचेतना का व्यापकतर और अवचेतन का व्यापकतम। मन का वह रूप चेतन कहलाता है जिसमें उदभूत विचार का हमें परिज्ञान रहता है। जो विचार बिना बाधा के चेतना में प्रवेश पाते है, वे पूर्वचेतन रूप के अश माने जाते हैं। पर शक्तिशाली होने पर भी जो प्रतिरोध के कारण चेतना मे नही आ सकते उन्हें अवचेतन माना जाता है। मानसिक प्रक्रिया में अवचेतन एक नित्य, अनिवार्य अवस्था है। प्रत्येक मानसिक विचार अवचेतन रूप में आरम्भ होता है और प्रतिरोध के अभाव मे पूर्व चेतन से होकर चेतना में प्रवेश करता है। प्रथम अवस्था में वह अवचेतन के स्तर पर होता है, और परीक्षा प्रक्रिया के द्वारा अगर वह अस्वीकार किया गया हो तो वह दूसरी अवस्था मे नही आ सकता, तब वह दमित माना जाता है और अवचेतन मे ही रहता है। परीक्षोत्तर अगर वह स्वीकृत हो जाता है, तो विशिष्ट स्थिति मे चेतना की वस्तु बन सकता है, पर अभी चेतना में नही आता। इस विशेषता के कारण उसे पूर्वचेतन कहते है। पूर्वचेतन और अवचेतन की व्याख्या के द्वारा मनोविश्लेषण वर्णनात्मक चेतना मनोविज्ञान से आगे बढ़ जाता है।

अवचेतन गत्यात्मक और कर्मशील होता है, न कि स्थिर और अकर्मण्य। उसमे वे मूलप्रवृत्तियाँ होती है जो सतुष्टि चाहती है। ये एक दूसरी से असम्बद्ध, स्वतन्त्र और तीव्र होती है। कभी कभी विस्थापन प्रक्रिया के द्वारा एक प्रवृत्ति अपनी समस्त शक्ति दूसरो को समर्पित करती है, और कभी सकोचन क्रिया के द्वारा अन्य प्रवृत्तियो से शक्ति ग्रहण करती है। ये मन की प्राथमिक प्रक्रियाएं है। अवचेतन की ये प्रक्रियाएँ समय निरपेक्ष होती है। उनका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नही होता और ये सुख दुःख नियम से सचालित रहती है।[1] इनमे न तर्क की प्रतिष्ठा होती है, न नीति की। अत अवचेतन को तर्कनिरपेक्ष और नीतिनिरपेक्ष माना जाता है। अवचेतन मे सन्देह और निषेध का भी पूर्ण रूप से अभाव होता है।

मन के इस अवचेतन स्तर को स्वीकार करने पर ही हम स्वस्थ तथा रुग्ण

1 The processes of the system Unconscious are timeless The processes of the Ucs just as little related to reality They are subject to the pleasure principle '
Freud Collected Papers, Vol IV p 119

दोनो के मानसिक व्यापारो की सम्यक व्याख्या कर सकते हैं। दैनिक भूलों, स्वप्नों, चापलताओं और अनान्सोल्लनाओं के परस्पर तरम्य वचोऔर अनात कारणों का उद्घाटन अवचेतन के सिद्धात की महायता से ही हो सकता है। 'अवचेतन' कोई मिथ्या धारणा नहीं है। फ्रायड के उपचारालयीन निरीक्षण निर्वाचन पर वह आधारित है। अवचेतन के अस्तित्व के प्रमुख प्रमाण मिल जाते ह जिनमें मुख्य ह, दैनिक प्रमाद, सम्मोहनावस्था, स्वप्न और स्नायुविकृतियाँ।

पर बाद में फ्रायड ने चेतन और अवचेतन को मनस्तत्व के गुण माना। प्रेरक शक्ति तथा प्रतिरोधक शक्ति की तीव्रता को जानकर मन की किसी वस्तु को चेतन या अवचेतन माना जा सकता है। प्रतिरोधक शक्ति की अत्यधिक तीव्रता प्रेरणा को अव चेतन गुण प्रदान करती है। इसका उदाहरण है, आँखों के निर्दोष होने पर भी मनुष्य का प्रतिरोधक शक्ति की तीव्रता के कारण देखने में असमर्थ होना।[२]

व्यक्तित्व का गतिशील रूप

व्यक्तित्व के सगठन तथा विकास को पूरी तरह ग्रहण करने म चेतन, पूर्वचेतन और अवचेतन की गतिविधियों की अपेक्षा इदम्, अहम् तथा पराहम् के परस्पर-सम्बन्ध की व्याख्या अधिक सहायक होती है। इदम्, अहम् तथा पराहम् मनिधान व्यक्तित्व के तीन अग है, जिनके सामजस्य पर व्यक्तित्व का सन्तुलन निर्भर करता है। सन्तुलित व्यक्ति ही यथार्थ के साथ समझौता कर अपनी आवश्यकताओं तथा मूल प्रवृत्तियों की तुष्टि कर सकता है। इस सामजस्य के अभाव म उसका जीवन कुण्ठाग्रस्त और असन्तोषजनक बनता है।

इदम्—इदम् आदिम प्रवृत्तियों और शक्तियों का भण्डार है, मानसिक ऊर्जा का मूलस्रोत है। यही वह आदिमानस है, जो जातीय और व्यक्तिगत विकास का मूलाधार है। इसमें मूलप्रवृत्तियों और बिम्बों के साथ जातीय अनुभवों के संस्कार भी निहित होते हैं।[१]

२ कैल्विन हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका, पृ० ४८ ४६

1 We have arrived at our knowledge of this psychical apparatus by stu'ying the individual development of human beings To the oldest of the psychical provinces or ag ncies we give the name of id It contains everything that is inherited that is present at birth that is laid down in the constitution—above all therefore, the instincts which operate from the somatic organization and which we find a first psychical expression here (in the id) in forms unknown to us'

—Freud An Outline of Psychoanalysis, Complete Psychological Works, Vol XXIII, p 145

वहँ अवचेतन रूप में ही पाया जाता है। यह वह आत्मगत अन्तर्विश्व है जिसका अस्तित्व बाह्य यथार्थ क संस्कारो के पूर्व मनुष्य में होता है।

मूलप्रवृत्तियों के उद्दीपनों का शमन और मानसिक शक्ति का विसर्जन इसका एक मात्र कार्य है। मूलप्रवृत्तियाँ अपनी संतुष्टि चाहती है, इस संतुष्टि का फल है सुख। अत तनाव म उत्पन्न दु ख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति ही इसका लक्ष्य है। इस कारण सुख-तत्त्व ही इसका संचालन करता है। इस प्रकार कामप्रवृत्तिजन्य ऊर्जा का विसर्जन कामविषय की प्राप्ति स होता है। उसके अभाव में कामोद्दीपन पीडाकारक होता है और उसकी प्राप्ति से अपूर्व सुख की प्राप्ति। मनुष्य का जीवन इस प्रकार उद्दीपना और उनक उपशमना की मालिका है। हिन्दी काव्य के संयोग-वर्णन और वियोग-वर्णन की व्याख्या इसके आधार पर की जा सकती है।

उद्दीपन से उत्पन्न तनाव को कम करने या विसर्जित करने के हेतु जो प्रक्रिया होती है, वह प्राथमिक प्रक्रिया कहलाती है। इदम् इस प्रक्रिया में पूर्वानुभव क स्मरण द्वारा सृष्ट बिम्ब की प्रत्यक्ष से तद्रूपता स्वीकार करता है। वह स्मृतिबिम्ब तथा प्रत्यक्ष में कोई भेद नही मानता। प्यासे का मृगजल देखना तथा कामपीड़ित व्यक्ति का काम विषय या कामप्रक्रिया का स्वप्न देखना इस प्रक्रिया के उदाहरण है। यह प्रक्रिया यद्यपि तनाव को पूर्ण रूप से विसर्जित नही कर पाती, फिर भी प्राप्य वस्तु की बिम्बरचना के द्वारा उसका लक्ष्य निर्धारित करती है। इस प्रकार किसी मूल इच्छा को तृप्ति के विषय पर जब मानसिक शक्ति व्यय होती है तब उसे विषय वरण कहते है। चित्रदर्शन या स्वप्नदर्शन के द्वारा उत्पन्न पूर्वराग में यह प्रक्रिया देखी जाती है। यह मन शक्ति गतिशील होती है और एक विषय स दूसरे पर आसानी स विस्थापित हो सकती है। यह विशेष रूप स तब सम्भव होता है जब दोनो में सादृश्य हो। इस सादृश्य के कारण दोनो में तद्रूपता मानना सरल होता है। इसी का एक विकृत रूप है विधेयचिन्तन जिसके द्वारा भिन्न भिन्न वस्तुओ को उनकी समानता के आधार पर एक ही माना जाता है। स्वप्न में घोड़े की सवारी इसी कारण रतिक्रिया का प्रतीक बन जाती है।

इदम् संवेगात्मक, कालातीत, अतार्किक, और नीतिविचारहीन होता है। इसकी विशेषता है आवेगात्मक आचरण। पर इदम् मूल प्रवृत्तियो की तुष्टि करते समय काल, यथार्थ तथा नीति अनीति की परवाह नही करता है।[1]

अहम्—पर मूलप्रवृत्तियो की तुष्टि केवल आवेगात्मक आचरण और बिम्बरचना के द्वारा नहा हो सकती। इन प्रवृत्तिया को बाह्य जगत् के अनुकूल बनाने पर ही आव

---

१ कैल्विन हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका, पृष्ठ १६ २४

श्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। जो सगठन आत्मगत अन्तर्विश्व को इस प्रकार वस्तुगत यथार्थ के अनुकूल ढालता है, अहम् कहलाता है। यथार्थ के साथ सम्पर्क स्थापित करने पर इदम् का एक नया परिष्कृत रूप बनता है, जिसे अहम् की सज्ञा दी जाती है।[1]

इससे स्पष्ट है कि अहम् यथार्थ-तत्त्व से सचालित होता है। पर यथार्थ-तत्त्व के स्वीकार का अर्थ सुख-तत्त्व का त्याग नहीं है। यथार्थ का ध्यान रखकर वह तुष्टि के लक्ष्य से प्रेरित प्रवृत्तियों पर रोक लगाता है, जिसमें मनुष्य को दुःख सहना पड़ता है। पर वास्तव में यथार्थ-तत्त्व प्रवृत्तियों को सशोधित और नियन्त्रित कर सुख की उचित ढग से प्राप्ति करने के हेतु ही उनके विषय की खोज करता है। इदम् की प्राथमिक प्रक्रिया केवल लक्ष्य निर्धारण में सहायक होती है, उसकी तुष्टि में नहीं। विषय को प्राप्त करने या खोज निकालने की प्रक्रिया अहम् के द्वारा होती है। प्रथम प्रक्रिया के बाद यह होती है, अत इसे द्वितीय या गौण प्रक्रिया कहते हैं। इसमें व्यक्ति यथार्थ का परीक्षण करता है और ऐसी आयोजना करता है, जिससे लक्ष्य पूरा हो सके। इदम् अन्तर्विश्व और बाह्य यथार्थ में भेद नहीं करता, पर अहम् द्वितीय प्रक्रिया के द्वारा इन दोनों को पृथक् करता है और फिर उनमें तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार कुण्ठा, शिक्षा और अनुभव मानसिक तत्त्व को बाह्य जगत् के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति के विकास में सहायक होते हैं। यथार्थ के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर उसका मानसिक बिम्ब वह शक्ति प्राप्त करता है जो इदम् स्वय प्रयुक्त करता था। यह प्रक्रिया अहम्-वरण कहलाती है। इस तादात्म्य से प्राथमिक क्रिया में प्रयुक्त शक्ति यथार्थ चिन्तन के विकास में प्रयुक्त होती है। इससे व्यक्तित्व का विकास होता है। अहम् की बौद्धिक क्रियाएँ जब जब आवश्यकताओं की पूर्ति में सफलता प्राप्त करती हैं, तब अहम् इदम् से अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता है। पर उनके असफल हो जाने पर फिर इदम् की प्राथमिक प्रक्रिया सबल बनती है और इच्छापूर्ति के लिए विभ्रमपूर्ण बिम्बों की सृष्टि होती है। जागृत दशा में भी जब यह क्रिया होती है तब उसे इच्छामूलक चिन्तन कहते हैं। पर अहम् जब मानसिक शक्ति

---

१ 'From what was originally a cortical layer, equipped with the organs for receiving stimuli and with arrangements for acting as a protective shield against stimuli, a special organization has arisen which henceforward acts as an intermediary between the id and the external world To this region of our mind we have given the name of ego

—Freud Complete Psychological Works, Vol XXIII, p 146,

को पूर्णरूप से वश में कर लेता है, तब वह उसे प्रवृत्ति-तुष्टि के अतिरिक्त अन्य लक्ष्यों की पूर्ति में भी लगा सकता है। इससे अवधान, अधिगम, स्मरण, निर्णय, तर्क, कल्पना आदि के विकास में भी वह प्रयुक्त हो सकती है। इस प्रकार मानसिक शक्ति जब इदम् से अहम् की ओर प्रवाहित हो जाती है तब जातीय और सांस्कृतिक विकास में योग देती है।

इस प्रकार अहम् एक प्रशासन संस्था है जो इदम् की शक्ति पर यथार्थ के साथ समायोजन होने तक रोक लगाता है। मूलप्रवृत्ति को नियन्त्रित करनेवाली इस शक्ति को अवरण कहते हैं। अहम् के ये अवरण इदम् के विषय-वरण का विरोध करते हैं। अहम् का शक्ति ऐसे नये विषयों की ओर भी प्रवाहित होती है जो मूल विषयों से सम्बद्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि जब आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यय होने के बाद भी वह बची रहती है। दिवास्वप्न और मनोरथ सृष्टि का निर्माण भी अहम् करता है पर इसमें भी मानसिक जगत् और यथार्थ जगत् के भेद का बोध व्यक्ति करता है। अहम् ही इदम् और पराहम् में समन्वय स्थापित करने में प्रयत्नशील रहता है। यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण में यद्यपि अहम् का सृष्टि होती है फिर भी अहम् को पूर्ण रूप से चेतना के स्तर पर कार्य करनेवाला संस्थान मानना उचित नहीं है। अहम् का विकास इदम् से ही होता है और चूंकि इदम् पूर्णरूप से अवचेतन स्तर पर कार्य करता है अहम् का अधिकांश रूप अवचेतन होता है। अहम् का कार्य है इदम् की मूलप्रवृत्तियों को वास्तविकता के अनुरूप ढालना और उनकी सन्तुष्टि करना। अतः अहम् वास्तव में अवचेतन और चेतन स्तरों के बीच होता है और दोनों स्तरों पर कार्य करता है।[1]

पराहम्—इदम् सुख तत्त्व से परिचालित होता है और अहम् यथार्थ-तत्त्व से, पर पराहम् आदर्श के प्रतिनिधि के रूप में मनुष्य को नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आचारों की संहिता प्रदान करता है। इन आदर्शों के अनुकूल काम करनेवाले अहम् का विकसित रूप है पराहम्। पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक परिस्थितियों की पुनरावृत्ति के आधार पर अहम् कुछ मानकों और आदर्शों की सृष्टि करता है और इनके अनुसार इदम् की मूलप्रवृत्तियों की सन्तुष्टि करता है। अहम् के इस परिष्कृत एवं प्रशिक्षित रूप को पराहम् कहते हैं।

डॉ० याय० मसीह ने इसे न्याय विभाग कहा[2], क्योंकि सत्-असत्, पाप पुण्य, तथा धर्म अधर्म का निर्णय कर वह असत्य पाप तथा अधर्म का आचरण करनेवाले को दण्ड

---

१ कैल्विन हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका पृष्ठ २४ २६

२ डा० याय मसीह मनोविश्लेषण और फ्रायडवाद की रूपरेखा, १९५४, पृष्ठ १३३

देता है और सदाचारी को पुरस्कृत करता है। दण्ड देने का काम अन्तर्विवेक करता है और पुरस्कृत करने का अहम्-आदर्श। पराहम् के ये दो अंग हैं जो मनुष्य को सदाचारी या दुराचारी घोषित करते हैं। पुण्य का फल होता है आत्मसम्मान और पाप का दण्ड आत्मग्लानि।

फ्रायड का कथन है कि माँ-बाप के आदेशों और निषेधों को शिशु स्वीकार करता है और इसी से पराहम् का उदय होता है।[1] माता पिता, अन्य अधिकारी तथा समाज की बाह्य सत्ता का जब आन्तरीकरण होता है तब उनका स्थान नैतिकता ग्रहण करती है। यह नैतिकता मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों का शमन या दमन करती है। इस आन्तरीकरण के बाद बाह्य अधिकारी के अभाव में भी मनुष्य उनकी मान्यताओं के अनुसार आचरण करता है। जननीयासक्ति को त्यागने पर शिशु पिता से सरूपीकरण कर लेता है। इससे वह माता के प्रति अपने प्रेम को त्यागकर स्वयं प्रेम पात्र बन जाता है। इस प्रकार पुत्र इदम् का भी सतुष्टि कर लेता है और अहम् की भी। पर लड़की को पितृ प्रेम त्यागने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता और इस कारण उसके शैशव में आन्तरीकरण तथा सरूपीकरण की आवश्यकता नहीं होती। फलत लड़की में पराहम् का निर्माण उचित ढंग से नहीं होता और न उसमें नैतिक आदर्श ही ऊँचा रहता है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य की जो नायिकाएँ पर-पुरुष की कामना करती हैं, उनकी प्रवृत्ति इस तथ्य के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है।

इससे स्पष्ट है कि पराहम् का निर्माण ईडिपस ग्रंथि के निराकृत हो जाने पर होता है। इसी कारण फ्रायड ने पराहम् को ईडिपस ग्रंथि का उत्तराधिकारी माना। आन्तरीकरण के फलस्वरूप मनुष्य की प्रवृत्तियाँ समाज-स्वीकृत रूप में ढल जाती हैं। नैतिक आदर्श फिर वशानुगत का रूप बन जाता है और यथार्थ के परिवर्तित होने पर भी अनुप्रमित होता रहता है।

पराहम् भाव और कर्म में भेद नहीं करता और फलत उसका दण्डविधान बहुत

---

१ 'The long period of childhood, during which the growing human being lives in dependence on his parents, leaves behind it as a precipitate the formation in his ego of a special agency in which this parental influence is prolonged It has received the name of Super-ego

—Freud, quoted in 'What Freud Really Said' by David Stafford Clark, p 112

ही कठोर होता है। सन्त और भक्तों की आत्मग्लानि और दैन्यभक्ति की व्याख्या पराहम् के इस दण्डविधान की सहायता से हो सकती है।[1] धार्मिक व्यक्ति के अहम् को पराहम् की कठोर ताड़ना सहनी पड़ती है। यह पराहम् बाह्यप्रक्षेप के रूप में भगवान् बन जाता है और भक्त उसका दास।

पराहम् काम और आक्रमण प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति में बाधा पहुंचाता है। फिर भी इनकी संतुष्टि के लिए इदम् पराहम् को वशीभूत कर सकता है और तब पराहम् इदम् का प्रतिनिधि बन जाता है और अहम् का शत्रु। इदम् और पराहम् दोनों अहम् को यथार्थ की अपेक्षा अयथार्थ के प्रति आकृष्ट करते हैं। इस प्रकार अहम् को दो स्वामियों की सेवा करनी पड़ती है वह इदम् की आदिम प्रवृत्तियों की संतुष्टि भी करता है और साथ पराहम् के आदर्शों और निषेधों का पालन भी। इदम् और अहम् का संघर्ष स्वच्छन्दधारा के शृंगार कवियों में प्राप्य है।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि व्यक्तित्व के इन तीन रूपों की कल्पना सुविधा की दृष्टि से की गयी है। व्यक्तित्व के गत्यात्मक और जटिल होने के कारण इनकी विभाजक सीमाएँ निर्धारित नहीं की जा सकतीं। व्यक्तित्व की शक्तियों और प्रक्रियाओं को स्पष्ट करनेवाले ये तीन भिन्न भिन्न विभाग हैं। ये निरन्तर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और प्रभावित होते रहते हैं।[2]

क्षुधा का सिद्धान्त

– क्षुधा मानसिक ऊर्जा का आदिस्रोत है। इस ऊर्जा की मात्रा परिवर्तित होती रहती है। क्षुधा का प्रमुख उपादान है कामवृत्ति। फ्रायड ने कामप्रवृत्ति को महत्ता इस लिए दी कि जीवन में उसका स्थान सर्वोपरि है और सबसे अधिक दमन उसी का होता

---

1 For the more virtuous a man is the more severe and distrustful is its behaviour so that ultimately it is precisely those people who have carried saintliness furthest who reproach themselves with the worst sinfulness This means that virtue forfeits some part of its promising reward the docile and continent ego does not enjoy the trust of its mentor and strives in vain it would seem to acquire it

—Freud Civilization and Its Discontents, Complete Psychological *Works Vol XXI pp 125 126*

२ कैल्विन हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका, पृष्ठ ३०

है।[1] लुब्धा एक ऐसी ऊर्जा-व्यवस्था है जो शक्ति के अविनाशित्व सिद्धान्त से परिचालित होती है। इस कारण एक क्षेत्र से हटाई गयी ऊर्जा दूसरे क्षेत्र में अभिव्यक्त होती है। सुरत की शक्ति का चिन्ता में परिवर्तित होना तथा असामाजिक वृत्ति के दमन में प्रयुक्त शक्ति का हास्य के रूप में प्रकट होना इसी के उदाहरण है। लुब्धा के विकास की सुनिश्चित अवस्थाएँ होती है। प्रत्येक अवस्था मे विशिष्ट कामक्षेत्र पर वह केन्द्रित होती है। उसकी सन्तुष्टि का विशिष्ट लक्ष्य होता है। पर यह विकास माता, पिता आदि का शिशु के आचरण के प्रति जो रुख होता है उस से प्रभावित होता है।

फ्रायड ने कामप्रवृत्ति को मन कायिक प्रक्रिया और लुब्धा को विभिन्न रूपो में प्रकाशित मानसिक अभिव्यक्ति माना।[3] इस प्रकार कामप्रवृत्ति की मानसिक शक्ति को लुब्धा कहकर उन्होने उसे क्षुधा, अधिकारैषणादि के समान शक्तिशाली घोषित किया। लुब्धा एक गत्यात्मक शक्ति है। कभी आत्मकेन्द्रित लुब्ध बहि प्रक्षेपित होती है और कभी यह क्रिया विपरीत दिशा म प्रवाहित होती है। इसके विकासक्रम में यह किसी विशेष स्तर पर लक्ष्यनिबद्ध भी हो सकती है। कभी कभी इसके पूर्ण विकसित हो जाने पर भी मनुष्य विकास-पूर्व स्थिति पर प्रतीपायन के द्वारा पहुँच जाता है। लुब्धा के अक्षुण्ण और अखड स्रोत स कई धाराएँ फूट पड़ती है जो व्यक्तित्व के विकास, चरित्र निर्माण और लक्ष्यपूर्ति के सब व्यवहारो की दिशा निर्दिष्ट करती हैं।

मूलप्रवृत्तियाँ

मनोविश्लेषण को मूलप्रवृत्ति का मनोविज्ञान माना जाता है। पर फ्रायड ने

---

1 and it was made quite clear that the sexual instinct was sin led out because it was regarded as the most important one and subject to repression 'the one we know most about'
—I A C Brown Freud and Post Freudians p 22

2 In its economic aspects libido in an individual is regarded as a closed energy system regulated by the physical law of conservation of energy so that libido withdrawn from one area must inevitably produce effects elsewhere—'
—Ibid

2 'The sexual instinct, he (Freud) regarded as a psycho physical process having both bodily and mental manifestations By 'libido he essentially meant the latter, in whatever form th y may be displaced'
—E Jones Sigmund Freud Life and Work, Vol II, p 316

मूलप्रवृत्ति के पुराने सिद्धान्त का विरोध कर नया सिद्धान्त स्थापित किया। पुरानी विचारधारा के अनुसार मूलप्रवृत्ति विशिष्ट प्रेरक के प्रति स्वचालित और अर्जित अनुक्रिया थी, पर फ्रायड के अनुसार वह ऐसी सापेक्षत अनान्तरित ऊर्जा है जिसमें अनुभव के द्वारा अमेय परिवर्तन होता है।[1] व्यक्तित्व के विकास में जिस ऊर्जा का व्यय होता है वह सहजजात प्रवृत्तियों से प्राप्त होती है। मूलप्रवृत्ति विभिन्न मानसिक क्रियाओं को अपनी सन्तुष्टि के लिए प्रेरित तथा सचालित करती है। वह मन को प्रेरणा प्रदान करती है पर यह प्रेरक बाह्य नहीं आन्तरिक होता है।[2] इसकी आवश्यकता की पूर्ति में मन ऐसी विधि अपनाता है जो बाह्य प्रेरक से पलायन की विधि से भिन्न होती है। इस प्रवृत्यात्मक प्रेरक को फ्रायड ने आवश्यकता कहा है।

मूलप्रवृत्ति के उद्गम, विषय, लक्ष्य और प्रवेगात्मक शक्ति की चर्चा फ्रायड ने की है। उसका स्रोत शारीरिक आवश्यकता या आवेग है जो शरीर के किसी अग में होनेवाली प्रक्रिया के द्वारा ऊर्जा को उन्मुक्त कर देता है। उसका विषय वह वस्तु है जिसके द्वारा उसकी सन्तुष्टि होती है। उसका लक्ष्य है उद्दीपन का शमन। उद्दीपन से कायिक और मानसिक विक्षोभ उत्पन्न होता है और व्यक्तित्व का सन्तुलन नष्ट हो जाता है। उसे फिर स्थापित करना मूलप्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य है। उसकी प्रवेगात्मक शक्ति ऊर्जा के परिमाण पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से कामप्रवृत्ति का स्रोत शारीरिक आवश्यकता है। उसका लक्ष्य है काम-तृप्ति। उसका बाह्य या गौण लक्ष्य है काम विषय की खोज। काम तृप्ति के पूर्व तनाव बढता जाता है या रत्योपचारों के द्वारा बढाया जाता है। यह तनाव जितना अधिक होगा रति सुख उतना ही अधिक। कामप्रवृत्ति का विषय है सहवास। काम की ऊर्जा जितनी अधिक होगी, मनुष्य उतना ही अधिक कामातुर होगा। मध्यकालीन हिंदी काव्य में अभिव्यक्त काम प्रवृत्ति का इस दृष्टि से अनुशीलन उपादेय होगा।

मनोविश्लेषण के आरम्भिक दिनों में दो मूलप्रवृत्तियाँ स्वीकृत हुई।—१ अहम् प्रवृत्ति, और २ काम प्रवृत्ति।[3] *काम प्रवृत्ति के तृप्ति विषय अहम् बाह्य होते है। अत* वह

---

1 J A C Brown Freud And Post-Freudians, p 10

2 First, a stimulus of instinctual origin does not arise in the outside world but from within the organism itself
—Freud Collected Papers Vol Ix p 62

3 I have proposed that two groups of such instincts should be distinguished the self preservative or ego instincts and sexual instincts
—Freud Collected Papers Vol IV p 67

बहिर्देशित होती है। पर काम विषय जब बाह्य विषय से विवृत होकर अहम् में केन्द्रित हो जाते है, तब बहिर्देशित काम प्रवृत्ति अन्तर्देशित हो जाती है। इस प्रकार काम प्रवृत्ति अहम् में निहित होती है और इस दृष्टि से अहम् प्रवृत्ति भी तृष्णा में युक्त रहती है। इस अहम् स्थित काम प्रवृति को स्वयरति कहते है। काम प्रवृत्ति की प्रक्रिया को फ्रायड ने चार वर्गों में रखा।—१ विरोधी प्रवृत्ति में रूपान्तर, २ आत्मामुखी क्रिया, ३ दमन और ४ उन्नयन। विरोधी प्रवृत्ति में रूपान्तर दो प्रकार से हो सकता है—१ सक्रियता का निष्क्रियता में रूपान्तर, जैसे परपीडनतोष का आत्मपीडनतोष में या प्रदर्शन प्रवृत्ति का प्रेक्षण प्रवृत्ति में, और २ अन्तर्वस्तु में रूपान्तर, जैसे प्रेम का घृणा में। इसमें मूलप्रवृत्ति के लक्ष्य में रूपान्तर होता है, पर आत्मोन्मुखन में विषय में परिवर्तन होता है, लक्ष्य में नहीं।

जिजीविषा और मुमूर्षा

फ्रायड अन्ततोगत्वा अपने द्वैतवाद के अनुकूल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य में दो मूलप्रवृत्तियाँ होती है—१ जिजीविषा या जीवन प्रवृत्ति, और २ मुमूर्षा या मृत्यु प्रवृत्ति। जिजीविषा में काम प्रवृत्ति और अहम् प्रवृत्ति के अंग पाये जाते है। पर मुमूर्षा फ्रायड की नयी सकल्पना है। वह तृष्णा से सर्वथा भिन्न है और आक्रमण प्रवृत्ति का ही एक रूप है। वह अन्तत तनाव और काम से शून्य आदिम जड़ावस्था के प्रति प्रतीपायन है। जिजीविषा दैहिक आवश्यकता का मानसिक प्रतिरूप है और वह अनुजीवन तथा प्रजनन की दृष्टि से आवश्यक है। वह रचनात्मक प्रक्रियाओं के द्वारा जीवन के लिएउपयुक्त क्रियाओं को सयोजित और सचालित करती है। मुमूर्षा युद्ध, विवाद, विघटन जसे विध्वसात्मक कार्यों से सम्बद्ध रहती है। जिजीविषा सर्जनात्मक है, मुमूर्षा विनाशात्मक। पर जीवन में दोनो प्रवृत्तियाँ किसी न किसी अनुपात में सम्मिलित रहती है और मानसिक जीवन द्वन्द्वात्मक भावों की सृष्टि करती है। इसी कारण प्रेम के साथ द्वेष का भाव अवियोज्य रूप में रहता है। ये प्रवृत्तियाँ कभी एक दूसरी के प्रभाव को निराकृत कर देती है और कभी एक दूसरी का स्थान ग्रहण करती हैं। प्रेम हिंसा को निराकृत कर देता है या हिंसा में रूपान्तरित हो जाता है। जिजीविषा का नियामक तत्त्व है सुख और यथार्थ तत्त्व, पर मुमूर्षा का नियामक तत्त्व है निर्वाण तत्त्व। एक ही क्रिया की पुनरावृत्ति के लिए कभी कभी मनुष्य बाध्य हो जाता है। इस पुनरावृत्ति बाध्यता कहते है। पुनरावृत्ति से सुख की प्राप्ति हो सकती है, पर कभी-कभी उसमें आत्मविनाश की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस देखकर फ्रायड ने मुमूर्षा की सकल्पना की।

मुमूर्षा के तीन रूपों की विवेचना फ्रायड ने की है—१ जड़ावस्था में विलीन होने की प्रवृत्ति, जो सब जीवों में पायी जाती है, २ उत्तेजना शून्य साम्यावस्था पर पहुँचा देनेवाली सन्तुलन प्रवृत्ति, और ३ वह आक्रमण प्रवृत्ति जो अन्तर्देशित होने पर आत्म

विनाश की ओर ले जाती है और बहिर्दमित होने पर परविनाश के लिए प्रवृत्त करती है। फ्रायड जड़वादी थे और जड़ावस्था को ही सृष्टि का आदिरूप मानते थे। इसी जड़ सृष्टि से जीव की उत्पत्ति मानकर उन्होंने आदि जीव में मुमूर्षा को स्वभावत उत्पन्न कहा।

मुमूर्षा का अन्तिम तथ्य है जड़ वस्तु की स्थिरता की ओर लौटना। आदिम जीवन वास्तव में उस विक्षोभ का नाम है जो बाह्य प्रेरक से उत्पन्न हुआ था। उस विक्षोभ का निराकरण जीवन का निराकरण और निर्जीव अवस्था के प्रति प्रतीपायन थी। विक्षोभ काल के बढ़ जाने पर जीवों की आयु भी बढ़ गयी और उनमें प्रजनन की क्षमता विकसित हुई। जीवन की निरन्तरता इस प्रजनन-क्षमता के द्वारा निश्चित तो हुई पर कोई जीवविशेष अमर नहीं हो सका। अत जीवन वास्तव में मृत्यु की ओर ले जाने वाला जटिल पथ है।

मुमूर्षा का अस्तित्व तीन बातों से प्रमाणित होता है—१ युद्ध की क्रूरता और विनाशकारिता, २ आत्मपीड़नतोष और परपीड़नतोष की प्रवृत्तियाँ और ३ भावों की उभयात्मकता। फ्रायड ने अपनी पुरानी धारणा में संशोधन कर आत्मपीड़नतोष को प्राथमिकता दी और परपीड़नतोष को उसका बहिःप्रक्षेपण माना। मनुष्य में दो विरोधी भावों की सत्ता होती है जिसे उभयात्मकता या द्विभाव कहते हैं। बालक के मन में पिता के प्रति प्रेम के साथ घृणा भी होती है। घृणा मृत्यु प्रवृत्ति की व्युत्पत्ति है।

अन्तर्दमित आक्रमण मनुष्य के लिए विनाशकारी बन सकता है, अत उसे कम ध्वंसकारी बनाने के लिए दो प्रकार का प्रयत्न किया जाता है[1]—१ उसे क्षुधा या काम प्रवृत्ति से संयोजित करना अर्थात् आत्मपीड़नतोष या परपीड़नतोष में रूपान्तरित करना और २ उसे बहिःप्रक्षेपित करना। पर अहम् अगर बाह्य सत्ता का कड़ा विरोध करे या नैतिकता का पालन न करे तो पराहम् उसे नष्ट करने के लिए अन्तर्दमित आक्रमण को अधिक बल प्रदान करता है। इसमें पराहम् का वही लक्ष्य होता है जो इदम् में

---

१ Since inwardly directed aggression from whatever source is dangerous to the individual there arises a constant necessity to deal with it in such a manner as to make it less destructive to him, and this may be done in one of two ways by erotizing it, that is to say by combining it with libido, in which case it may take the form of sadism or masochism or by directing it outwards in aggression against others
—J A C Brown Freud and Post Freudians p 27

स्थित मुमूर्षा का होना है। मध्यकालीन हिंदी काव्य में वर्णित कामोपचारों और युद्धो का विश्लेषण इन तथ्यो के आधार पर इस प्रबध म किया गया है।

काम-विवेचन

मार्क्सवाद के आलोचक यह आपत्ति करते हैं कि मार्क्स ने सभ्यता के विकास को वर्गसघर्ष के रूप में देखकर अर्थ ही को समस्त संस्कृति की जड माना। इसी प्रकार के ऐकान्तिक अतिवाद का दोष फ्रायड पर भी लगाया जाता है। फ्रायड के विरोधक उनके सिद्धान्तों में काम की प्रधानता देखकर उन्हें सर्वकामवादी कहते हैं। पर यद्यपि फ्रायड ने कामप्रवृत्ति को सर्वोपरि मानकर उसका सर्वाधिक विवेचन किया है, फिर भी वे सर्व कामवादी नही थे। फ्रायड ने 'काम' शब्द को पारम्परिक अर्थ में प्रयुक्त नही किया। प्राय 'काम' का प्रयोग भिन्नलिंगिया के रतिव्यापार, तज्जन्य सुख, या प्रजनन के लिए होता है। फ्रायड ने इस सकुचित और पारम्परिक धारणा को त्यागकर 'काम' को व्यापक सन्दर्भ और अर्थ प्रदान किया।[1] उन्होने कामुकता को जननेंद्रिय व्यापार के अतिरिक्त ऐसे व्यापक शरीर-व्यापार के रूप में देखा जिसका प्रमुख लक्ष्य सुखप्राप्ति होता है। यौन प्रवृत्तियो में उन्होने वात्सल्य, सख्य, सहानुभाव, कोमलता, आदर, श्रद्धा आदि सब भावो को सन्निविष्ट किया जिनका समाहार 'प्रेम' में होता है। अत फ्रायड का 'काम' शब्द 'प्रेम' का पर्यायवाची बन गया है।[2] इसी काम को, जो व्यापक रूप में विश्व की भावात्मक और सृजनात्मक प्रेरणा का केन्द्र रहा है, उन्होंने मनुष्य के भाव-जीवन का सार तत्त्व माना। उनकी मनश्चिकित्सा का भी यह निष्कर्ष है कि सब स्नायुरोग काम व्यापार की गड़बडी के कारण उदभूत होते हैं। चिन्ता के मूल में उन्होने खण्डित सम्भोग, अनभिव्यक्त उत्तेजना एव यौन वर्जन देखा।[3]

---

१ 'Freud uses the word 'sex' in a very general sense He includes in it not only specifically sexual interests and activities, but the whole love life—it might almost be said the whole pleasure life—of human beings '
—Edna Heidbreder Seven Psychologies p 389

२ Such a conception of sex is something very much vaster than is usually understood by that term, actually it more nearly approximates to what we might very broadly call love '
—Nicole Normal And abnormal Psychology p 51

३ 'Anxiety states he feet, were caused by coitus interruptus, undischarged excitement and sexual abstinence
—Puner Freud His Life and His Mind, p 94

विनाश की ओर ले जाती है और वहिर्गमित होने पर परविनाश के लिए प्रवृत्त करती है। फ्रायड जड़वादी थे और जड़ावस्था को ही सृष्टि का आदिदशा मानते थे। इसी जड़ सृष्टि से जीव की उत्पत्ति मानकर उन्होंने आदि जीव में मुमूर्षा को स्वभावतः उत्पन्न कहा।

मुमूर्षा का अन्तिम तथ्य है जड़ वस्तु की स्थिरता की ओर लौटना। आदिम जीवन वास्तव में उस विक्षोभ नाम है जो बाह्य प्रेरक से उत्पन्न हुआ था। उस विक्षोभ का निराकरण जीवन का निराकरण और निर्जीव अवस्था के प्रति प्रत्यावर्तन थी। विकास काल के बढ़ जाने पर जीवो की आयु भी बढ गयी और उनमे प्रजनन की क्षमता विकसित हुई। जीवन की निरन्तरता इस प्रजनन-क्षमता के द्वारा निश्चित तो हुई, पर कोई जीवविशेष अमर नही हो सका। अतः जीवन वास्तव मे मृत्यु की ओर ले जाने वाला जटिल पथ है।

मुमूर्षा का अस्तित्व तीन बातो से प्रमाणित होता है—१ युद्ध की क्रूरता और विनाशकारिता, २ आत्मपीड़नतोष और परपीड़नतोष की प्रवृत्तियाँ और ३ भावो की उभयात्मकता। फ्रायड ने अपनी पुरानी धारणा में संशोधन कर आत्मपीड़नतोष को प्राथमिकता दी और परपीड़नतोष को उसका बहिःप्रक्षेपण माना। मनुष्य में दो विरोधी भावो की सत्ता होती है जिसे उभयात्मकता या द्विभाव कहते है। बालक के मन में पिता के प्रति प्रेम के साथ घृणा भी होती है। घृणा मृत्यु प्रवृत्ति की व्युत्पत्ति है।

अन्तर्देशित आक्रमण मनुष्य के लिए विनाशकारी बन सकता है, अतः उसे कम ध्वसकारी बनाने के लिए दो प्रकार का प्रयत्न किया जाता है[१]—१ उसे क्षुधा या काम प्रवृत्ति से संयोजित करना अर्थात् आत्मपीड़नतोष या परपीड़नतोष मे रूपान्तरित करना, और २ उसे बहिःप्रक्षेपित करना। पर अहम् अगर बाह्य सत्ता का कड़ा विरोध करे या नैतिकता का पालन न करे तो पराहम् उसे नष्ट करने के लिए अन्तर्देशित आक्रमण को अधिक बल प्रदान करता है। इसमें पराहम् का वही लक्ष्य होता है जो इदम् में

---

१ Since inwardly directed aggression from whatever source is dangerous to the individual there arises a constant necessity to deal with it in such a manner as to make it less destructive to him and this may be done in one of two ways by erotizing it, that is to say by combining it with libido in which case it may take the form of sadism or masochism or by directing it outwards in aggression against others
—J A C Brown Freud and Post Freudians p 27

स्थित मुमूर्षा का होना है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में वर्णित कामोपचारो और युद्धो का विश्लेषण इन तथ्यो के आधार पर इस प्रबन्ध में किया गया है।

काम विवेचन

मार्क्सवाद के आलोचक यह आपत्ति करते है कि मार्क्स ने सभ्यता के विकास को वर्गसंघर्ष के रूप में देखकर अर्थ ही को समस्त संस्कृति की जड माना। इसी प्रकार के ऐकान्तिक अतिवाद का दोष फ्रायड पर भी लगाया जाता है। फ्रायड के विरोधक उनके सिद्धान्तो में काम की प्रधानता देखकर उन्हें सर्वकामवादी कहते है। पर यद्यपि फ्रायड ने कामप्रवृत्ति को सर्वोपरि मानकर उसका सर्वाधिक विवेचन किया है, फिर भी व सर्व कामवादी नही थे। फ्रायड ने 'काम' शब्द को पारम्परिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया। प्राय 'काम' का प्रयोग मिथुनलिंगियो के रतिव्यापार, तज्जन्य सुख, या प्रजनन के लिए होता है। फ्रायड ने इस सकुचित और पारम्परिक धारणा को त्यागकर 'काम' को व्यापक सदर्भ और अर्थ प्रदान किया।[1] उन्होने कामुकता को जननेन्द्रिय व्यापार के अतिरिक्त ऐसे व्यापक शरीर-व्यापार के रूप में देखा जिसका प्रमुख लक्ष्य सुखप्राप्ति होना है। यौन प्रवृत्तियो में उन्होने वात्सल्य, सख्य, सहानुभाव, कोमलता, आदर, श्रद्धा आदि सब भावो को सन्निविष्ट किया जिनका समाहार 'प्रेम' में होता है। अत फ्रायड का 'काम' शब्द 'प्रेम' का पर्यायवाची बन गया है।[2] इसी काम को जो व्यापक रूप मे विश्व की भावात्मक और सजनात्मक प्रेरणा का केन्द्र रहा है, उन्होने मनुष्य के भाव-जीवन का सार तत्त्व माना। उनकी मनश्चिकित्सा का भी यह निष्कर्ष है कि सब स्नायुरोग काम व्यापार की गड़बड़ी के कारण उद्भूत होते हैं। चिन्ता के मूल में उन्होने खण्डित सम्भोग, अनभिव्यक्त उत्तेजना एव यौन वर्जन देखा।[3]

---

१ 'Freud uses the word 'sex' in a very general sense He includes in it not only specifically sexual interests and activities, but the whole love life—it might almost be said the whole pleasure life—of human beings

—Edna Heidbreder Seven Psychologies p 389

२ Such a conception of sex is something very much vaster than is usually understood by that term, actually it more nearly approximates to what we might very broadly call love

—Nicole Normal And abnormal Psychology p 51

३ 'Anxiety states he feet, were caused by coitus interruptus undischarged excitement and sexual abstinence

—Puner Freud His Life and His Mind p 94

मुख-मैत्र के बाद गुदा म बालक की यौन प्रवृत्ति केन्द्रित होती है। गुदीय अवस्था में विशिष्ट चारित्रिक गुणों का विकास होता है। मलोत्सग क्रोधावश, प्रवेगात्मक स्फोट आदि उत्सर्गक्रियाओ का आदिरूप है। इस अवस्था में गोचपरोपण काय माता करती है। वह जिन पद्धतियो को अपनाती है, उनका बालक के चरित्र निर्माण म बहुत महत्त्व पूण स्थान है। अपनी सुखद प्रक्रिया में बाधा पडने पर वह क्रोध प्रकट करता है और प्रतिक्रियास्वरूप अपने को ग-्ग कर लेता है। अगर इस पर वह लक्ष्यनिबद्ध हो जाता है तो बाद में हठी, सनकी, गैरजिम्मदार और अपव्ययी बन जाना है। पर कभी-कभी इसके विरुद्ध आचरण म भी उसकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। वह सफाई की ओर अत्य धिक ध्यान देता है और उसकी मितव्ययिता कृपणता में परिवर्तित हो जाती है। अगर माता मलविसजन के लिए याचना करती है तो वह बाद में उदारमना और परोपकारी बन जाता है। कभी कभी वह मल को मूल्यवान् मानकर रोके रहता है। इसका विकास बाद म ईर्ष्या, द्वेष, सर्वाधिकारलिप्सा में होता है। गुदा परिपीडननोप में स्थिरित व्यक्ति झगड़ालू, तुनकमिजाज और चुप्पीसाधक बन जाता है। कठोर यथाथ से इसी अवस्था में वह परिचित हो जाता है और फलस्वरूप वह पराहम् का उदय इसी समय होता है।

शिश्नीय अवस्था में बालक जननेन्द्रियो की भिन्नता स परिचित नही होता। इस दशा म लडके का काम शिश्न म और लडकी का भगाफ में केन्द्रित होता है। मुखोय, गुदीय और शिश्नीय अवस्थाएँ प्राग्जननेन्द्रिय-अवस्थाए है। इनके उपरान्त सुप्तावस्था का प्रादुर्भाव होता है और उसके अनन्तर काम जननेन्द्रियो म केन्द्रित हो जाता है।[1]

मौखिक अवस्था म शिशु का काम अपने समस्त शरीर पर केन्द्रित होता है। यह अवस्था आत्मकामुकता कहलाती है। अपने सवदनशील शरीर के किसी भी अग को स्पश करने पर वह सुख अनुभव करता है। यह आत्मकामुकता बाद में स्वयरति मे विक सित होती है। इसमें शिशु अपने को ही कामालम्बन मानकर उसी प्रकार प्रेम करता है जिस प्रकार कोई युवा अपनी प्रेमिका से। पर यथाथ-बोध क विकसित होने पर वह समलिंगियों से प्रेम करता है। इसे समलिंगी-काम कहते है। फिर काम प्रवृत्ति जब परि पक्वावस्था को पहुँचती है तब वह भिन्नलिंगी व्यक्ति के प्रति आकर्षित हो जाता है। इसे भिन्नलिंगि काम कहते है।[2]

मध्यकालीन हिन्दी काव्य के चरित्र चित्रण का उद्घाटन और विश्लेषण करने मे ये तथ्य सहायक होते है।

---

१ केल्विन हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका, पृ० ६१ १०१

2 Nicole Normal and Abnormal Psychology, p 52

स्वयंरति

जब शिशु अपने ही को काम-पात्र बनाता है तब उसकी रति को स्वयंरति कहते हैं। अपने शरीर को सहलाने, देखने आदि क्रियाओं से उसे रतिसुख का सा सुख प्राप्त होता है। अपने शरीर को प्रसाधित करने तथा अपनी सब वस्तुओं की रक्षा करने में वह दत्तचित्त रहता है। प्रौढ़ावस्था में भी मनुष्य बाह्य जगत् से पलायन कर अपने काम को अपने अहम् के प्रति प्रवाहित करता है। काम-पात्र के वरण में भी स्वयंरति कार्यशील रहती है। समलिंगिकामुक तथा यौन दृष्टि से विच्युत लोग उसी पात्र को चुनते हैं जो उनके समान हो। यह विषय-वरण स्वयंरत्यात्मक होता है। लड़की में वयस्कता के विकास के साथ स्वयंरति की तीव्रता देखी जाती है। उसके काम विषय वरण में जो प्रतिरोध लगाये जाते हैं उनकी पूर्ति वह आत्मनिर्भरता के द्वारा करती है। ऐसी स्त्रियाँ अपने को उसी तीव्रता से प्यार करती हैं जिस तीव्रता से पुरुष उनको प्यार करते हैं। स्वयंरत व्यक्ति प्राय उस व्यक्ति के प्रति आकर्षित होता है जिसने अपने स्वयंरति को आंशिक रूप में त्याग दिया हो। स्त्री अपने पुत्र को जो अत्यधिक प्यार करती है उसका मूल उसकी स्वयंरति में प्राप्त होता है।

स्वयंरति के विभिन्न रूप मनुष्य के आचरण-व्यवहार में लक्षित होते हैं। प्राय शिशु अपने वास्तविक स्वरूप को प्यार करता है। अपने समवयस्क समलिंगी शिशु के प्रति आकर्षण में यही प्रवृत्ति होती है। यह समलिंगिकामुकता स्वयंरति से पुष्ट होती है। कभी-कभी मनुष्य अपने अतीतकालीन स्वरूप को प्यार करता है। प्रौढ़ व्यक्ति प्राय नवयुवक के प्रति इस लिए आकर्षित होते हैं कि वह उसमें अपनी यौवनदशा का रूप दिखाई देता है। पिता का पुत्र के प्रति और माता का कन्या के प्रति प्यार स्वयंरत्यात्मक होता है। माता पिता में यह भी इच्छा रहती है कि उनकी सन्तान वे कार्य करके दिखाये जो वे स्वयं नहीं कर पाये। अपने आदर्श का प्रतिफलन जिस व्यक्ति में दिखाई देता है, मनुष्य प्राय उसी का समादर करता है। इस विभूति-पूजा में भी स्वयंरति का भाव होता है। कभी-कभी मनुष्य अपने किसी विशिष्ट अंग को प्यार करता है। इसे अंगात्मक स्वयंरति कहते हैं।

आत्मसम्मान का स्वयंरति से दृढ़ सम्बन्ध है। स्वयंरत्यात्मक विषय-वरण का लक्ष्य है प्यार किया जाना। इसी में उसकी सन्तुष्टि होती है। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि से प्रेम करना एक वंचना है, इससे आत्म सम्मान को ठेस पहुँचती है। पर प्यार किये जाने में आत्म सम्मान की वृद्धि होती है।[1]

मध्यकालीन हिंदी काव्य के नायक-नायिकाओं के विषय-वरण, शृंगार प्रसाधन आदि के मूल में स्वयंरति ही है।

---

१ Freud Collected Papers, Vol II p p 30 59

जन्म से ही बालक का माता से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अतः माता ही उसका प्रथम प्रेमालम्बन बनती है। पिता के माता पर एकाधिकार को वह सह नहीं सकता। वह पिता को अपना प्रतिद्वंद्वी मानता है और उसमे ईर्ष्या करने लगता है जो बाद में घृणा और द्रोह में परिवर्तित हो जाती है। पुत्र की इस अनन्यासक्ति को ईडिपस ग्रन्थि कहते है।[1] विकास की प्रक्रिया में पुत्र कुछ समय तक माता तथा पिता दानो को प्यार करता है। वह पिता के साथ सरूपीकरण इसलिए करता है कि उसका व्यक्तित्व प्रभावकारी रहता है और परिवार में उसी का प्रभुत्व स्वीकार किया जाता है। पर पिता को जब वह अपने माता के प्रति प्रेम में एक बाधा के रूप में देखता है तब पिता के प्रति हिंसाभाव उसके मन में जाग्रत होता है। फिर भी माता के प्रति अपनी आसक्ति को उसे दमित करना पड़ता है। इसका प्रमुख कारण है नपुंसकीकरण अथवा अण्डोच्छेदन का भय। उसको आशंका होती है कि पिता उसके उपस्थ को काट देगा। यह आशंका और उग्र तब बन जाती है जब वह बालिका के उपस्थ को देखकर सोचता है कि उसका अण्डोच्छेदन किया गया है। वह अपना द्वेष फिर पिता पर प्रक्षेपित करता है और सोचता है कि पिता द्वेषवश उसका अण्डोच्छेदन करने जा रहा है। ईडिपस ग्रन्थि के निराकरण में अन्य स्थितियाँ भी सहायक होती हैं। अगम्य गमन समाज में निषिद्ध माना जाता है अतः वह अनन्यासक्ति को त्याग देता है। माता से भी इसमें कोई सहयोग नहीं मिलता। फिर परिपक्वावस्था में वह अन्य स्त्री के प्रति भी आकर्षित हो जाता है। अतः व्यक्तित्व के विकासक्रम में ईडिपस ग्रन्थि का विनाश अनिवार्य है।

अनन्यासक्ति की सन्तुष्टि वह सक्रिय और निष्क्रिय दोनों रूपों में करना चाहता है। या तो वह पिता का स्थान ग्रहण करना चाहता है या माता का। पर स्त्री को नपुंसकीकृत मानने से दोनो प्रकार की सन्तुष्टियों की सम्भावना का अन्त हो जाता है। इस

---

[1] The phallic phase as we have seen begins about the end of the third year when the boy s interest becomes centered upon his penis and this interest soon gives rise to a feeling of sexual attraction towards the mother associated with feelings of jealousy or resentment directed against the father who has become the boy s rival in his mother s affection This of course is the well known Oedipus Complex named after the king in Sophocles s play Oedipus Rex who killed his father and married his mother and thereby brought a plague to Thebes
—J A C Brown Freud and Post Freudians p 23

प्रकार बालक ईडिपस ग्रंथि से मुक्त हो जाता है। सुप्तावस्था में बाह्य वस्तुवरण को वह त्याग देता है और पिता के साथ सरूपीकरण कर लेता है। पिता के प्रभुत्व को अपने अहम् में सम्मिलित कर वह अपने अहम् की बाह्य-वस्तुवरण से रक्षा करता है। इसमें जनन्यासक्ति का उन्नयन हो जाता है।

बालक वास्तव में उभयलिंगी होता है। अगर उसमें स्त्री-तत्त्व की प्रधानता हो तो ईडिपस ग्रंथि से मुक्त हो जाने पर वह माता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और अगर पुरुष-तत्त्व प्रधान हो तो पिता के साथ। इन प्रक्रियाओं की सफलता तथा शक्ति पर उसके चरित्र का स्त्रैणत्व या पुरुषत्व निर्भर करता है। इसीसे पराहम् का भी उदय होता है। इस कारण पराहम् को ईडिपस ग्रंथि का उत्तराधिकारी माना गया है।

बालिका भी प्रथम बालक के समान माता को ही प्यार करती है। पर जब वह अपने उपस्थ में पुरुषलिंग का अभाव देखती है तब उसे लगता है कि उसका अण्डोच्छेदन कर दिया गया है। इसके लिए वह माता को दोषी मानती है और पिता से प्रेम करने लगती है। इस प्रेम के मूल में शिश्न ईर्ष्या रहती है। वास्तव में अण्डोच्छेदन भय तथा शिश्न ईर्ष्या अण्डोच्छेदन ग्रंथि के दो पक्ष हैं। बालक में अण्डोच्छेदन ग्रंथि ईडिपस ग्रंथि के निराकरण का कारण बनती है और बालिका में ईडिपस ग्रंथि के निर्माण का। पर पिता की प्राप्ति को असम्भवनीय देख कर वह ईडिपस ग्रंथि को त्याग देती है। बालिका में भी उभयलिंगित्व होता है। अगर वह पिता के साथ सरूपीकरण करती है तो उसमें पुरुष-तत्त्व की प्रधानता होती है और अगर माता के साथ तादात्म्य स्थापित करती है तो स्त्री-तत्त्व की।[1]

अन्तर्द्वन्द्व

मनुष्य का मन एक युद्ध भूमि है। उसमें इच्छाओं और प्रवृत्तियों का संघर्ष नित्य चलता रहता है। यथार्थ से समायोजन करते समय अहम् को इदम् की प्रवृत्तियों से जूझना पड़ता है, पराहम् के कठोर नियमों की ताड़ना सहनी पड़ती है। इसमें इच्छाओं और मूलप्रवृत्तियों की सन्तुष्टि अबाध रूप से नहीं हो सकती। ये बाधाएँ केवल बाह्य यथार्थ नहीं खड़ा करता, मानसिक संरचना में भी परस्पर विरोधी भावों का अस्तित्व पाया जाता है जो एक दूसरे की सन्तुष्टि में बाधा पहुँचाते हैं। भौतिक वातावरण, सामाजिक परिवेश और सांस्कृतिक आदर्श अपनी मान्यताओं को व्यक्ति पर थोपते जाते हैं और उसकी प्रबल प्रेरणाओं का सन्तुष्टि नहीं होने देते। इनके आत्मसात्करण से पराहम् को बल मिलता है और अन्तःकलह की सृष्टि होती है। इस प्रकार अहम् के विरुद्ध इदम्, पराहम् और

[1] Freud Collected Papers Vol II, p p 269 276

६

यथाथ मोर्चा बाँध लेते है।[1] अहम् की इनसे रक्षा करना मनोविश्लेषक का काम है, जो अहम् का बाहरी मित्र होता है। पर अहम् स्वयं आत्मरक्षा के लिए कई उपाय करता है। ये प्रक्रियाएँ अवचेतन स्तर पर होती है और तनाव से मुक्ति पाने में सहायक होती है। इनका काय है—कुण्ठा को मूल लक्ष्य से हटाना, उसकी ऊर्जा को कामशून्य लक्ष्य की ओर मोड़ना और उसकी पशु प्रवृत्तियो की लक्ष्य पूर्ति म बाधा पहुचाना।

दमन—दमन मानसिक दुख से बचने के लिए की जानेवाली एक अवचेतन प्रक्रिया है, जिसके द्वारा प्रतिषिद्ध, अनैतिक और आदर्शविरोधी भावनाओ को चेतना में प्रवेश करने से रोका जाता है। प्राथमिक दमन एक वशानुगत प्रक्रिया है जो इदम् की विषय-वस्तु का हमेशा के लिए अवचेतन में रखती है। सगोत्र सम्भोगेच्छा का दमन इसका उदाहरण है। यह शैशव में घटित होता है। वास्तविक दमन के द्वारा दुखद स्मृति, विचार, या बोध को चेतना के बाहर रखा जाता है। पर दमित इच्छाएँ अवचेतन में क्रियाशील रहती है, उनकी ऊर्जा किसी प्रकार कम नही होती और न उनकी तृप्ति लालसा ही कम होती है। ये दमित इच्छाएँ किसी-न किसी रूप में सामान्य या अप सामान्य विधियो के द्वारा चेतना में प्रवेश करती है। अहम् और पराहम् जितने ही सबल होंगे दमन उतना ही तीव्र। व्यक्तित्व के विकास म दमन का योग महत्वपूर्ण है, पर उससे कभी कभी अपसामान्य व्यवहारों का सृष्टि होती है।

सरूपीकरण—किसी अन्य व्यक्ति के गुणो, मान्यताओ या आदर्शों को ग्रहण करना सरूपीकरण कहलाता है। स्वयरत्यात्मक सरूपीकरण उन व्यक्तियो के साथ होता है जिनमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व की विशेषताएँ पाता है। चोर का चोर के साथ और धनवान का धनवान के साथ सरूपीकरण इसी प्रकार का है। अन्य व्यक्ति के आदर्श के अनुसार अपने व्यक्तित्व को ढालना लक्ष्योन्मुखी सरूपीकरण है। इसका उदाहरण है बालक का अपने पिता, अध्यापक या नेता के साथ सरूपीकरण। खोये हुए विषय के साथ सरूपीकरण विषय हानि सरूपीकरण कहलाता है। माता पिता से बिछुड़ा हुआ बालक उनके आदर्शों को आत्मीकृत कर लेता है। भय के कारण आक्रामक के प्रतिरोधी के साथ सरूपीकरण कर मनुष्य उनके दण्ड से अपने को बचाता है।[2]

विस्थापन—निषिद्ध या अप्राप्य व्यक्ति अथवा वस्तु म हटकर मूलप्रवृत्ति की ऊर्जा जब अन्य समाज सम्मत या प्राप्य विषय पर जब केन्द्रित होती है तब उसे विस्थापन कहते है। स्तनपान के अभाव में अँगूठा चूसना या धूम्रपान करना विस्थापन के उदाहरण है। अहम् तथा पराहम् के निर्माण में विस्थापन का योग महत्वपूर्ण है।

1 Because the ego was caught between the often opposing forces of its two companions in this analogy the ego was constantly in a position of extreme vulnerability
—David Stafford Clark What Freud Really Said p 152

२ कैल्विन हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका, पृष्ठ ६८

उन्नयन—जब ऊर्जा का विस्थापन किसी उदात्त सांस्कृतिक, धार्मिक या कलात्मक लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है तब उसे उन्नयन कहते है। सभ्यता का विकास मूलप्रवृत्तियों के उन्नयन पर निर्भर करता है। पत्नी के व्यंग्य से आहत तुलसीदास की धर्मसाधना उन्नयन का ही एक रूप है।

प्रक्षेपण—अवचेतन में दमित अपनी इच्छाओं और प्रवृत्तियों को दूसरों पर आरोपित करना प्रक्षेपण कहलाता है। इस प्रकार स्वयं आक्रमण की इच्छा करने वाला दूसरे को आक्रामक कहता है।

औचित्यस्थापन—अपने आचरण की गर्हणीय वास्तविकता को छिपाकर अपने अहम् की रक्षा करने के हेतु मनुष्य समाज सम्मत तर्क प्रस्तुत कर उसका औचित्य स्थापित करता है। इसे औचित्य स्थापन कहते हैं। अपने पराहम् से दण्डित व्यक्ति जब दान करता है तो समाजकल्याण की गप्पें इसी हेतु होहाना है।

विपरीतीकरण—दमित प्रवृत्ति कभी-कभी विरुद्ध प्रवृत्ति का रूप धारण कर चेतना में प्रकट होती है, तब उसे विपरीतीकरण कहते है। अतिमात्रता और बाध्यता इसकी विशेषताएँ है। पति के प्रति घृणा अतिप्रेम के द्वारा अभिव्यक्त होती है।

लक्ष्यनिबन्धन—जब मनुष्य असफलता, दण्ड आदि की आशंका से विकास की नयी स्थिति को अस्वीकार कर पहली स्थिति या क्रिया पर ही अपनी ऊर्जा को व्यय करता है तब उसे लक्ष्यनिबद्ध कहा जाता है। लक्ष्यनिबन्धन विषय के प्रति भी हो सकता है और विकास की अवस्था या व्यक्तित्व की रचना में भी। बालक अपने पिता या अपनी माता के प्रति लक्ष्यनिबद्ध होता है। कुछ लोग इच्छा-मूलक चिन्तन से आगे नहीं बढ़ सकते। कुछ लोग अपने आवेगात्मक व्यवहार में ही बद्ध रहते है।

प्रतीपायन—प्रतीपायन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य विकास की परिपक्वावस्था पर पहुँचने पर भी आत्मरक्षा के लिए पूर्वावस्था पर लौटता है। पति से मतभेद होने पर स्त्री मैके लौट आती है और माता के कंधे पर सिर रखकर सिसक सिसक कर रोती है।

प्रतीकीकरण—सादृश्य, साहचर्य आदि के कारण सम्बद्ध वस्तुएँ या क्रियाएँ परस्परावद्ध हो जाती है और एक दूसरी को द्योतित करती हैं। इसे प्रतीकीकरण कहते हैं। यह प्रक्रिया अवचेतन में ही होती है। इस प्रकार साँप मनुष्य के उपस्थ का और घर स्त्री का प्रतीक बन जाता है।

संक्षेपण—इस अवचेतन प्रक्रिया के द्वारा अनेक वस्तुओं और विचारों को एक वस्तु या विचार के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

स्वैरकल्पना—दुःखद विचारों से मनुष्य पलायन ही नहीं करता, वह अवचेतन में दबे बिम्बों में डूब जाता है। यथार्थ से चोट खाया व्यक्ति काल्पनिक जगत् की सृष्टि करता है। अनुनादक तरंगों में रममाण व्यक्ति यथार्थ से सम्बन्धविच्छेद कर लेता है और

केवल दिल को बहलाने के लिए कल्पनासृष्ट जगत् में विचरण करता है। यह तारंगिकता सृजनशील भी हो सकती है जिसके द्वारा कलाकार नयी रचना का सर्जन करता है।

अन्तःक्षेपण—इस प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य भयकारक वस्तुओं को आत्मीकृत कर लेता है। चापलूसी इसी का उदाहरण है।

सम्पूर्तीकरण—मनुष्य सम्पूर्ति का प्रयत्न तब करता है जब वह जीवन में किसी अभाव को अनुभव करता है। यह अभाव वास्तविक भी हो सकता है और कल्पित भी। कभी-कभी यह प्रक्रिया अति की सीमा तक पहुँच जाती है। प्रेम में विफल हो जाने पर नशाबाजी करना इसका उदाहरण है।

यौन विच्युतियाँ

काम प्रवृत्तियों का विकास जब समुचित रीति से नहीं होता, तब मनुष्य में यौन विकृतियाँ पैदा होती है। यद्यपि समाज में कई स्त्री पुरुष बौद्धिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में उच्च स्थानों पर आसीन होते है फिर भी उनका यौन जीवन विकृतियों से अप सामान्य बन जाता है। कतिपय विकृत लोग न भिन्नलिंगियों के प्रति आकर्षित होते है और न प्रजननोद्देश्य की पूर्ति कर सकते है। अनेक व्यक्ति स्वयरति से वस्तु प्रेम की ओर विकास पूर्णरूप से नही कर पाते, अत विभिन्न यौन विच्युतियों की सृष्टि उनमें होती है। कभी-कभी कामोद्देश्य भिन्नलिंगियों से हट जाते हैं और कभी शैशवीय लक्ष्यनिबन्धन प्रजननप्रक्रिया के प्रतिष्ठित होने में बाधा पहुंचाता है। कई लोग कामशक्ति के प्रबल होने पर भी सहवास के समय क्लीवता अनुभव करते है। विकृत स्त्रियों मे कभी-कभी कामशैत्य प्रबल बन जाता है। ये विकृतियाँ साधारण रूप से दो प्रकार की होती हैं—कभी काम का लक्ष्य बदल जाता है, और कभी काम का आलम्बन।[1] इस प्रकार सामान्य प्रक्रिया को त्यागकर अनुचित प्रक्रिया और आलम्बन के द्वारा कामतुष्टि यौन विकृति का लक्षण है। ये विकृतियाँ विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है जिनमें निम्नलिखित रूप साधारणत पाये जाते है।

प्रदर्शन प्रवृत्ति—सहवास-सुख काम प्रवृत्ति का सामान्य लक्ष्य है पर कई मनुष्यों में यह जननेन्द्रिय प्रदर्शन के रूप में परिवर्तित होता है। इसी में ऐसे लोगों को कामतुष्टि का आनन्द मिलता है। यह प्रवृत्ति पुरुष लिंगावस्था में विकसित होती है। यह अण्डोच्छेदन भय की प्रतिक्रिया है।

प्रक्षण प्रवृत्ति—शरीर को वस्त्रों से ढकना सभ्यता का अटूट अंग है। इससे यौन

---

१ Our experience shows us that there are many deviations in reference to both sexual objects and sexual aims which require thorough investigation '

—Freud Three Contributions To The Theory of Sex in The Basic Writings of Sigmund Freud p 553

कुतूहल जाग्रत होता है। आलम्बन के इन्हें गुप्तांगों को देखने की तीव्र इच्छा उद्भूत होती है। यह एक सहवास-पूर्व क्रिया मानी जा सकती है। पर इसी में जब लक्ष्यनिबंधन हो जाता है, तब प्रेक्षण प्रवृत्ति विकृति का रूप धारण करती है। वास्तव में प्रेक्षण प्रियता प्रदर्शन प्रवृत्ति की सहचारिणी है। दोनों का सम्बन्ध देखने की प्रवृत्ति से है। अन्तर इतना ही है कि प्रदर्शन प्रवृत्ति में सक्रियता होती है और प्रेक्षण प्रवृत्ति में निष्क्रियता।[1]

परपीडनतोष—कामालम्बन को पीडा पहुंचाने में ही यौन आवेग की परितुष्टि मानना परपीडनतोष है। आक्रमण प्रवृत्ति काम प्रवृत्ति से मिलकर उसे इस विकृति में परिवर्तित कर देती है। स्वस्थ व्यक्ति भी यौन आवेग को उत्तेजित करने के हेतु कामालम्बन के विभिन्न अंगों पर नखक्षत, दन्तक्षत या प्रहार करता है। किन्तु काम विषय पर आधिपत्य पाने और उसके साथ निर्दयता तथा क्रूरता से पूर्ण आचरण करते पर वह विकृत बन जाता है।

आत्मपीडनतोष—प्रेमी या प्रेमिका के द्वारा दी गई पीडा में ही काम-तुष्टि मानना आत्मपीडनतोष कहलाता है। इसके तीन रूप हैं—कामेन्द्रीय, स्त्रैण तथा नैतिक। कामेन्द्रीय आत्मपीडनतोष में कामोद्दीपन होता है। स्त्रैण रूप में निष्क्रिय सहयोग रहता है और नैतिक रूप में पराहम् के आदर्श से च्युत होने पर उद्भूत अवचेतन पाप भाव की तुष्टि।

मानसिक नपुंसकता—शरीर तथा जननेंद्रिय के स्वस्थ होने और भोगेच्छा की तीव्र लालसा होने पर भी कभी कभी स्त्री-पुरुष सम्भोग-सुख की प्राप्ति नहीं कर सकते। इसका कारण है मानसिक नपुंसकता। पुरुष में इसका प्रादुर्भाव माता के प्रति यानी अगम्य आलम्बन के प्रति लक्ष्यनिबंधन और उचित आलम्बन को पाने में असफलता के कारण होता है। अगर पत्नी में अगम्यालम्बन के सदृश विशेषता हो तो वह भी अगम्य मानी जाती है। स्त्री में काम शैत्य इसीका एक रूप है। समाज में दीर्घकाल तक कुमारीत्व रक्षण तथा तारुण्य में कामशक्ति के विलम्बन के कारण उसके मन में रतिक्रिया और उसका निषेध इस तरह घुल मिल जाते हैं कि उसमें यौन आवेग का अभाव हो जाता है।[2]

समलिंगिकामुकता—पुरुष की पुरुष के प्रति तथा स्त्री की स्त्री के प्रति आसक्ति समलिंगिकामुकता कहलाती है। कतिपय समलिंगिकामुक अपने को बौद्धिक तथा मानसिक

---

१ 'The latter, if I may draw conclusion from a single analysis, is in a most pronounced way true exhibitionists, who expose their genitals with the idea of bringing to view the genitals of others The sexual aim exists here in a two fold formation, in an active and a passive form'
—Ibid p 569

२ Freud Collected Papers, Vol IV, p p 203 216

विकास के ऊँचे स्तर पर पहुँचने और अपने को तृतीय लिंग मानने का दावा करते हैं। इसमें काम के यथार्थ आलम्बन से विरति दिखाई देती है। जब पुरुष माता के प्रति लम्यनिबद्ध हो जाता है, तब वह स्त्रैण बन जाता है और पुरुष की कामना करता है। स्त्री में शिश्न ईर्ष्या के द्वारा पुरुष-तत्त्व प्रबल बन जाता है, और वह स्त्री की कामना करने लगती है।

जडासक्ति—कभी कभी मनुष्य अपने काम-पात्र की विशेषता या उसके सम्पर्क में आने वाली किसी वस्तु के प्रति आसक्ति रखता है। यह वस्तु सिर्फ कामोद्दीपन ही नहीं करती, पूर्ण काम-सन्तुष्टि प्रदान करती है और उसमें सहवास की इच्छा नष्ट हो जाती है। इसे जडासक्ति कहते हैं। यह आसक्ति पैर, होंठ, बाल, आँख रूमाल आदि के प्रति होती है। मनुष्य इस काम्य वस्तु के प्रति श्रद्धा प्रकट करता है। प्रकृत यौन क्रिया में भी कुछ मात्रा में कमी का अनुभव कामालम्बन के अत्यधिक गौरव के साथ जुडा रहता है। इससे कामालम्बन से सम्बद्ध वस्तु को भी अत्यधिक गौरव दिया जाता है। पर जब काम्य वस्तु कामपात्र से अलग स्वयं कामालम्बन बन जाती है, तब यह प्रवृत्ति विकृति में परिणत होती है।[1]

इस प्रकार काम प्रवृत्ति के विकसित होने के पूर्व ही जब लज्जा, घृणा जैसी मानसिक प्रतिरोधक शक्तियाँ कार्य करने लगती हैं तब यौन विच्युति का निर्माण होने लगता है। इसके बाह्य कारण हैं स्वातन्त्र्य पर रोक, प्रकृत कामालम्बन की अप्राप्ति, रतिक्रियाजन्य संकट, पर इसका आन्तरिक कारण है काम प्रवृत्ति का दमन।[2]

दैनिक प्रमाद

मनुष्य दैनिक व्यवहार में अपभाषण, अपश्रवण, अपस्मरण एवं अपलेखन जैसी भूलें करते हैं। मानसिक नियतिवाद को स्वीकार करने पर यह मानना पड़ता है कि ये सोद्देश्य होती हैं, निरर्थक और आकस्मिक नहीं। इनका उद्देश्य होता है दमित इच्छा की पूर्ति और मानसिक दुःख से बचाव। इन प्रमादों के द्वारा दो प्रवृत्तियों का संघर्ष सूचित होता है। जो अभिव्यक्ति में बाधा पहुँचाती है उसे बाधक प्रवृत्ति और जिसकी अभिव्यक्ति में बाधा पहुंचायी जाती है उसे बाधित प्रवृत्ति कहते हैं। इनके संघर्ष से जो समझौता स्थापित हो जाता है वही दैनिक प्रमादों के द्वारा प्रकट होता है। इन प्रमादों के द्वारा दोनों प्रवृत्तियों की आंशिक सफलता और विफलता द्योतित होती है।[3] मनोविकारों के द्योतन के लिए साहित्यकारों ने इन प्रमादों को अपनी रचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान

---

१ Freud Complete Psychological Works Vol XXI p p 152 157
२ Freud Three Contributions To The Theory Of Sex in The Basic Writings of Sigmund Freud p 578
३ देवेन्द्रकुमार विद्यालंकार फ्रायड मनोविश्लेषण, १६६०, पृ० १८५०

दिया है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में इसका कलात्मक ढग से प्रयोग कर उर्वशी की कामासक्ति को अपमापण के द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'लक्ष्मी-स्वयवर' नाटक में जब मेनका, जो वारुणी का अभिनय करती है, लक्ष्मी का अभिनय करने वाली उर्वशी से पूछती है, 'कनमस्मिस्ते भावाभिनिवेश ' तब उर्वशी 'पुरुषोत्तमे' के स्थान पर 'पुरूरवसि' कहती है। सूरदास की गोपियों में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है।

स्वप्न-मीमासा

प्राय हम स्वप्न को अनगल और निरर्थक मानते हैं। पर फ्रायड ने स्वप्न प्रक्रिया का विश्लेषण कर स्पष्ट किया है कि स्वप्न का उद्देश्य है दमित इच्छाओ की प्रतीकात्मक और भ्रमात्मक रूप में परिपूर्ति। निद्रा-दशा में मन पर यथार्थ तत्त्व का प्रमुख कुछ शिथिल पड जाता है, अत दमित इच्छा अवचेतन से चेतना में प्रवेश करने में सफल हो जाती है। पर अहम् का प्रभाव कुछ न-कुछ इस अवस्था में भी बना रहता है, यह इच्छा अभिवेचक को चकमा देकर छद्म-वेश में प्रकट होती है। स्वप्न दमित इच्छा की विस्थापन के द्वारा सन्तुष्टि है। स्वप्न की मीमासा तभी हो सकती है जब हम उसके व्यक्त और गुप्त दोनो स्वरूपो को जान लेते हैं। स्वप्न का व्यक्त रूप उसका दृश्य रूप है, पर गुप्त तत्त्व है अवचेतन में प्रच्छन्न प्रक्रिया। इस प्रकार स्वप्न में घोडे की सवारी उसका व्यक्त रूप है, पर दमित सहवासेच्छा उसका गुप्त तत्त्व है। इन दोनो रूपो की सगति बिठाने पर स्वप्न ऊटपटाँग और निरर्थक नही लगता।

जिस प्रक्रिया के द्वारा स्वप्न के गुप्त स्वरूप को व्यक्त रूप में परिवर्तित किया जाता है, उसे स्वप्न प्रक्रिया कहते है। इस प्रक्रिया में सक्षेपण का महत्वपूर्ण योग रहता है। सक्षेपण में कुछ गुप्त विभागो का अप्रकट रहना, बहुत सी ग्रथियो का सिर्फ आशिक रूप में एक वस्तु के रूप म प्रकट होना तथा सदृश अवयवो का व्यक्त रूप में एकीकृत होना देखा जाता है। पर विस्थापन के द्वारा गुप्त वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तु की प्रतिष्ठापना या गुप्त वस्तु के महत्वपूर्ण पहलू से हटकर अन्य महत्त्वहीन वस्तु पर बलाघात सम्भव होना है। इसमे आश्चर्यजनक है गुप्त विचार का दृग्बिम्बो में परिवर्तित होना। इस नाटकीकरण कहते है। पर ये विचार प्रतीका के रूप में ही अभिव्यक्त हो सकते हैं। यह प्रतीकीकरण अवचेतन द्वारा परिचालित होता है। अवचेतन की भाषा प्राय बिम्बात्मक और प्रतीकात्मक हुआ करती है।[१] इस स्वप्न विश्लेषण द्वारा प्राप्त तत्वो के आधार पर धर्म, साहित्य, सस्कृति, कला आदि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है।

---

१ देवेन्द्रकुमार विद्यालकार फ्रायड मनोविश्लेषण, १९६०, पृष्ठ १०१ ११२ तथा १५५।

स्नायुरोग और मनोविकृतियाँ

हमने देखा है कि अन्त संघर्ष में प्रबल मूलप्रवृत्ति दूसरी को दमित कर देती है। पर दमित प्रवृत्ति अवचेतन से चेतना में आकर अपनी सतुष्टि के लिए हमेशा क्रियाशील रहती है। इसमे इदम् और पराहम् दोनो की सतुष्टि आवश्यक होती है। अत प्राय प्रत्येक विकृति के लक्षण में स्व पाप भावना, आत्महीनता, और आत्मवेदना किसी न किसी रूप में रहते है। लक्षण के प्रकट हो जाने पर मनोरोगी को दोहरा लाभ होना है। अन्त संघर्ष अथवा तज्जन्य तनाव से मुक्ति उसका प्राथमिक लाभ है। विकृति के द्वारा मनुष्य दूसरो से सहानुभूति प्राप्त करता है और आत्मवेदना से बच जाता है। यह उसका बाह्य या द्वितीय लाभ है।

मानसिक विकृति को क्रियात्मक विकार कहते हैं क्योंकि इसमें शारीरिक विकृतियां के अभाव में भी शरीरांगो में विकार पैदा होते है। इन मानसिक विकारो के दो भेद है— स्नायुरोग और मनोविकृति। स्नायुरोगी यथार्थ को विकृत करके मूलप्रवृत्ति का शमन करता है, पर मनोविकृति में रोगी यथार्थ से पलायन करता है। मनोविकृति में अहम् रचना का लोप होता है स्नायुरोग में नही होता। स्नायुरोगी की बौद्धिक प्रक्रिया का पूर्ण ह्रास नहा होता, पर मनोविकृतिग्रस्त की बौद्धिक प्रक्रिया अस्तव्यस्त हो जाती है। स्नायुरोगी सामाजिक नियमो का पालन करता है मनोविकृतिग्रस्त उन्हें स्वीकार नहीं करता।

स्नायुरोग के भी दो भेद होते है—मन स्नायुरोग और यथार्थ स्नायुरोग। मन स्नायुरोग में दमित इच्छाओ की तृप्ति प्रतीकात्मक रूप धारण करती है यथार्थ स्नायुरोग में प्रतीकात्मकता नही होती। मन स्नायुरोग का उद्भव शैशवीय काम में विक्षोभ के कारण होता है। यथार्थ स्नायुरोग में कामानुक्रम तथा वर्तमान स्थिति का हाथ रहता है। मन स्नायुरोगी अपनी काम प्रवृत्ति का दूसरे व्यक्ति में सक्रमित कर सकता है, पर यथार्थ स्नायुरोगी काम प्रवृत्ति को प्रतीपायन के द्वारा अपने ही अगो में केन्द्रित करता है।

मनोविश्लेषण से सम्बद्ध अन्य सम्प्रदाय

मनोविश्लेषण से सम्बद्ध सम्प्रदायो में प्रमुख है—एडलर का 'वैयक्तिक मनोविज्ञान', युग का 'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान', और नवफ्रायडवाद। प्राय ये सब फ्रायड या फ्रायडीय सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। पर इन्होने फ्रायड के सिद्धान्तो की आलोचना कर नये तत्त्वो का प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

एडलर प्रत्येक व्यक्ति की पृथगात्मता स्वय सिद्ध मानते है। अत उन्होने अपने सिद्धान्त को 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' कहा है।[१] इसका मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य

१ Lewis Way Alfred Adler, an Introduction to his Psychology a Pelican Book p 94

में स्वभावत आत्महीनता का भाव होता है जो इस न्यूनता पर विजय पाने के लिए उसे निरन्तर प्रेरित करता है।[१] बालक इस आत्महीनता की क्षतिपूर्ति के लिए अपने अनुभवों के आधार पर कुछ मनोवृत्तियों को विकसित करता है, जिन्हें एडलर ने जीवनप्रणाली के अन्तर्गत रखा है।[२] मनुष्य के समस्त चरित्र अथवा व्यक्तित्व का यही मूलाधार है और मनोविज्ञान का यही विवेच्य है। मनुष्य का लक्ष्य आत्महीनता से अपने को उबारना और आत्मसम्मान प्राप्त करना होता है। अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने के प्रयासों के तीन सम्भाव्य फल हैं—१ सफल क्षतिपूर्ति, जिसमें वह समाजकार्य और काम की चुनौती के साथ समायोजन कर लेता है, २ अतिरिक्त क्षतिपूर्ति, जिसमें वह विकृतियों को अपनाता है, और ३ अधिकार जताने के लिए रोगग्रस्त होना। एडलर दमन के सिद्धात को स्वीकार नहीं करते। 'कामविकास' तथा 'अवचेतन' का भी उन्होंने प्रत्याख्यान किया है। उनके सम्प्रदाय का मूलतत्त्व है 'पौरुष विरोध'। फ्रायड ने भी इस तथ्य की ओर सकेत किया है।[3]

युग ने फ्रायड तथा एडलर के विचारों में समन्वय स्थापित किया। फ्रायड के समान युग भी क्षुधा को स्वीकार करते हैं, पर युग के अनुसार वह कुछ लोगों में कामात्मक रूप में और अन्य लोगों में अधिकार लिप्सा के रूप में अभिव्यक्त होती है। अत क्षुधा को उन्होंने अ-काम जोवन-शक्ति के रूप में स्वीकृत किया है। युग ने मनुष्यों के दो वर्ग माने हैं—१ बहिर्मुख, और २ अन्तर्मुख। बहिर्मुख लोगों पर फ्रायड के सिद्धान्त व्यवहृत होते हैं और अन्तर्मुख लोगों पर एडलर के।[४] युग वैयक्तिक अवचेतन से भिन्न अवैयक्तिक अथवा सामूहिक अवचेतन मनुष्य में दायदाय के रूप में होता है और इसमें ऐसी प्राचीन प्रवृत्तियाँ और आध्यात्मिक एषणाएँ निहित होती है जो समस्त मानव जाति की धरोहर हैं। एडलर के समान युग ने अपनी दृष्टि को भविष्यत् के लक्ष्यों पर केन्द्रित किया था, फ्रायड के समान अतीत पर नहीं।[५]

ओटो रैन्क ने मन स्नायुविकृति के उद्भव में ईडिपस ग्रंथि को केन्द्रतत्त्व नहीं माना। उनका सिद्धान्त है कि विकृति का उद्भव जन्म के सवेगात्मक उद्वेग से होता है। स्तन-छुड़ाई, प्रतीकात्मक अण्डोच्छेदन, और प्रिय व्यक्ति से वियुक्त करने वाली

---

१ J A C Brown Freud and the Post Freudians p 38
२ Adler What life should mean to you p p 47 48
३ It is interesting to note that Freud too, recognised something of the sort when he suggested that feminine psychology is fundamentally affected by a sense of inferiority'
—N cole Normal and Abnormal Psychology p, 61
४ Ibid, p 62
५ J A C Brown Freud and Post Freudians, pp 49 50

स्थिति को उन्होंने चिंता के मूलभूत और व्यापक कारण माना है। यह चिंता जीवन में दो रूपों में व्यक्त होती है—१ जीवन भय, और २ मृत्यु भय। इससे मुक्ति के तीन मार्ग है—१ सामान्य मनुष्य की तरह समाज के आदर्शों का स्वीकार, २ सृजनशील मनुष्य की तरह अपने आदर्शों का निर्माण, और ३ इन दोनों को स्वीकारने की अक्षमता के कारण विकृति को अपनाना।[१]

रिवस और सूली ने फ्रायडवाद के उग्रतम अंगों को स्वीकार नहीं किया। रिवस ने चेतन और अवचेतन का अस्तित्व मज्जासंस्था में माना। उनके अनुसार अवचेतन की ऊर्जा का उपयोग अथवा दमन विकास के द्वारा होता है। उनका कथन है कि मातृप्रेम बालक की प्राथमिक आवश्यकता है और उसका प्राथमिक भय उससे वंचित होने की आशंका से उत्पन्न होता है। मनुष्य की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का विकास इस सम्बन्ध पर आधारित होता है। जहाँ फ्रायड ने काम प्रवृत्ति के निरोध और उन्नयन से संस्कृति का विकास सम्भव माना है वहाँ सूली ने उसे माता का स्थान ग्रहण करने वाले अन्य लोगों के स्वस्थ सम्बन्ध से। द्वेष को सूली ने ऐसी प्रतिक्रिया माना है जो प्रेम के खो जाने के भय से उत्पन्न होती है। विनाश की प्रवृत्ति से नहीं।[२]

पुराणपंथी फ्रायडवादियों में अन्ना फ्रायड और मेलन क्लीन के सिद्धांत महत्त्वपूर्ण हैं। अन्ना फ्रायड ने अहम् को अधिक महत्त्व प्रदान किया है और कहा है कि बिना अहम् के रक्षात्मक उपायों को समझे हम मूलप्रवृत्तियों के रूपान्तर को समझ नहीं सकते।[३] क्लीन के अनुसार पराहम् का उद्भव ईडिपस ग्रन्थि के निराकरण से पहले ही हो जाता है। शिशु अपने मन में स्थित दुष्ट प्रवृत्तियों का प्रक्षेपण करता है। पर उसकी प्रक्षेपित आक्रमण प्रवृत्ति उसे सताती है। इसे उत्पीड़क अवस्था माना जाता है। पर वह बाद में यह तथ्य जानता है कि अच्छाइयाँ और बुराइयाँ उसकी माता के ही विभिन्न रूप हैं। फिर वह अपने को माता के विनाश के लिए उत्तरदायी मानता है। इसे विषादावस्था कहा गया है। इस प्रकार क्लीन ने आक्रमण प्रवृत्तियों को अधिक महत्ता दी।[४]

नव्य फ्रायडवादियों में प्रमुख हैं हार्नी, फ्राम और सुलीवन। हार्नी का कथन है कि फ्रायड की मनोविज्ञान को महत्त्वपूर्ण देन है उनका सिद्धान्तत्रय—१ मानसिक नियतिवाद, २ मनुष्य के व्यापारों और भावों का अवचेतनीय संचालन, और ३ प्रेरणाओं की आवेगात्मकता। पर हार्नी ने फ्रायड के सिद्धान्त में निम्नलिखित त्रुटियाँ मानी है—

१ फ्रायड की कतिपय उपकल्पनाएं उन्नीसवीं शताब्दी के तात्त्विक विश्वासों के

---

१ Ibid, pp 52 53
२ Ibid p 63
३ Ibid p 68

आधार पर बनी ह । मूल प्रवृत्ति सिद्धात, स्त्री-पुरुष की मनोवैज्ञानिक भिन्नता के सम्बध में उनके विचार, शैशवीय काम विकास आदि में उनका अविवेक स्पष्ट है ।

२ समाजशास्त्र और नृतत्त्वशास्त्र स फ्रायड अनभिज्ञ थे ।

३ वे द्वैतवादी थे ।

४ उन्होने वतमान को अतीत के द्वारा नियमित माना है ।

५ फ्रायड क्षुधा को ही समस्त व्यापारो का उदगमस्रोत मानते है ।

६ ग्रथि व्यापक नही है । वह परिवेश के प्रभाव से बनती है । अत फ्रायड के इस सम्बध म विचार त्रुटिपूर्ण है ।

७ फ्रायड ने ग्रन्थि को विकृतियो का मूलाधार माना है ।

हार्नी विकृति को 'मूलीभूत चिंता' के स दभ में स्पष्ट करती है । काम विकास के फ्रायडीय सिद्धान्त को हार्नी प्रतीप दिशा में मोड़ती है और मौखिक तथा गुदीय अवस्था में अभिव्यक्त शारीरिक व्यापारो को ऐसी चारित्रिक विशेषताओ से उद्भूत मानती है जो शैशवकालीन अनुभवो की अनुक्रिया से बनती है ।[1]

फ्राम के सिद्धान्त दो उपसंकल्पनाओ पर आधारित है—१ मनोविज्ञान की समस्या मूलप्रवृत्ति की सन्तुष्टि या कुण्ठा से सम्बधित नहीं है, बल्कि व्यक्ति के बाह्य जगत् से स्थापित सम्बधो से सम्बधित है । २ मनुष्य और समाज के सम्बधो में निरन्तर परिवतन होता रहता है । भूख, तृषा, काम जसी मूलप्रवृत्तियाँ सावजनीन है, पर ऐंद्रियता, पुराणवादिता, प्रेम, द्वेष, अधिकार लिप्सा जसी प्रवृत्तियाँ सामाजिक प्रक्रिया से उद्भूत होती हैं । अत समाज केवल दमन नही करता, निर्माण भी करता है ।[2]

सुलीवन के अनुसार मानवीय व्यापारो के दो वर्ग है—१ सन्तुष्टि का प्रयत्न, और २ सुरक्षा का प्रयत्न । सुरक्षा के प्रयत्न सास्कृतिक हैं । रीक ने फ्रायड के 'परपीडन-तोष' और 'प्रेम विषयक विचारो की आलोचना कर यह प्रतिपादित किया कि काम और प्रेम मूलत एक नही है ।

इस प्रकार ग्रोडेक, विल्हेम रीच, फ्रान्ज अलेक्जाडर, हैलिड, कार्डिनर, मीड आदि ने फ्रायडीय सिद्धा त की आलोचना की है । फिर भी ये सब मनोवैज्ञानिक फ्रायड के ऋणी हैं । फ्रायड की विचार प्रणाली अनेको तथ्यो को कम-से-कम अनुमानो की सहायता से उद्घाटित करती है । साहित्यकारो, सामाजिक कायकर्ताओ और मनोवैज्ञानिको ने इसको स्वीकार इसलिए किया कि इसे यथाथ पर व्यवहृत किया जा सकता है । यूरोप और अमेरिका मे आज भी फ्रायडवादी परम्परा अक्षुण्ण है । स्पष्ट है कि 'वैयक्तिक मनोविज्ञान', 'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान' और नव्य-फ्रायडवाद का मूलस्रोत फ्रायडवाद

---

१ Ibid p 136

२ Ibid pp 145 160

ही है। मनोविज्ञान और मनश्चिकित्सा के क्षेत्र म फ्रायडीय तत्त्वो का आधार ग्रहण किये बिना कोई नयी खोज नही हो सकती।[२]

निष्कर्ष

जीवन की व्याख्या में फ्रायड के सिद्धा तो की उपादेयता निस्सन्देह महान् है। उनका कामसिद्धात, व्यक्तित्व के इदम्, अहम् और पराहम् नामक तीन सस्थानो की उनकी व्याख्या, उनका दमन सिद्धात, अहम् के प्रतिरक्षात्मक उपायो का विवेचन जीवन के विश्लेषण म सहायक होते है। उनकी यौन भाव विषयक विचारधारा मूलग्राही है। साहित्य जीवन का भाष्य है, अत साहित्य के अध्ययन में फ्रायडीय सिद्धातो का माहात्म्य अक्षुण्ण है।

फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धातो के आधार पर साहित्य की नयी व्याख्या की जा सकती है और साहित्य के मूल्याकन को नया आयाम प्रदान किया जा सकता है। साहित्य कार तथा उसके द्वारा सृष्ट पात्रो के व्यक्तित्व की विशेषताओ, उनके मनोविकारो, उनकी आकाक्षाओ, उनके बाह्य तथा आन्तरिक आचरण की विधियों, उनकी सफलताओ और विफलताओ, उनकी मनोग्रथियो और बाध्यताओ का सम्यक् विश्लेषण फ्रायडीय सिद्धातो की सहायता से करने पर कुछ नये तथ्य प्राप्त हो सकते है। धम, समाज और सस्कृति के उद्भव और विकास की नयी झाँकी ऐसे अनुशीलन से मिल सकती है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाओ, उपासना-पद्धतियो सामाजिक गतिविधियो और साहित्य शैलियो का अध्ययन इस नये परिप्रेक्ष्य म करना आवश्यक है।

---

२ Horney New ways in Psychoanalysis p 18

तृतीय अध्याय

वात्स्यायन और फ्रायड के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन

वात्स्यायन और फ्रायड में स्थल तथा काल की दृष्टि से बड़ा भारी अन्तर है। वात्स्यायन पूर्ण रूप से भारतीय थे और फ्रायड यहूदी। एक सूत्रकालीन आचार्य थे, दूसरे आधुनिक युग के सबल, क्रान्तिकारी विचारक। एक भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक थे, दूसरे प्रगतिशीलता के पक्षपाती। एक धार्मिक थे, दूसरे धर्म को स्नायु रोग मानते थे। एक की ईश्वर में अटल श्रद्धा थी, दूसरे नास्तिक थे। एक अध्यात्मवादी थे, दूसरे जड़वादी। इस प्रकार स्थल और काल के अन्तर से महत्वपूर्ण अन्तर है दोनों के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोणों में। फिर भी कुछ सीमा तक दोनों के विचारों में समानता पायी जाती है। दोनों ने मनुष्य के जीवन में काम की प्रधानता को स्वीकार किया है। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' की रचना कर लैंगिक शिक्षा का केवल महत्व ही प्रतिपादित नहीं किया, बल्कि उसके शास्त्र का निरूपण भी किया। फ्रायड ने कामजन्य विकृतियों का अध्ययन कर लैंगिक शिक्षा का महत्व स्पष्ट किया। वात्स्यायन ने श्रुति तथा धर्म शास्त्र के आधार पर कामिजनों को अभ्युदय एवं महोदय की प्राप्त करने की शिक्षा दी। फ्रायड ने कामिजनों के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर समाज, धर्म और संस्कृति की व्याख्या की। वात्स्यायन धर्मशास्त्र से कामशास्त्र की ओर आये, फ्रायड मनोविज्ञान से धर्मशास्त्र की ओर। वात्स्यायन मूलतः समाजवैज्ञानिक थे, फ्रायड मनोवैज्ञानिक। पर दोनों के विचारों में समाजविज्ञान तथा मनोविज्ञान घुल मिल गये हैं। वात्स्यायन ने स्वस्थ लोगों के कामाचरण का वर्णन कर यौन विच्युतियों का निर्देश किया है, फ्रायड ने यौन विच्युतियों का वर्णन कर सामान्य मनोविज्ञान के सिद्धान्त स्थापित किये हैं। इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन साहित्य के अध्येता के लिए उपादेय होगा। युग ने भारतीय और पाश्चिमात्य काम विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन की ओर जो संकेत किया है, इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[1]

---

१ 'Our studies of sexual life originating in Vienna and in

श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण इन्द्रियो की अपने-अपने विषय में अनुकूल प्रवृत्ति को वात्स्यायन ने काम कहा है।[1] ये इन्द्रियाँ मन से सयुक्त होती हैं और मन आत्मा से सयुक्त होता है। शब्द, स्पश, रूप, रस तथा गध का उपभोग करने की इच्छा जब आत्मा मे जाग्रत होती है, तब वह मन से सयुक्त हो जाता है। न्यायशास्त्र के अनुसार आत्मा में सुख, दु ख, प्रयत्नादि गुण समवाय सम्बन्ध से रहते है और उससे सयुक्त मन फिर इन्द्रियो के साथ सयुक्त हो जाता है। तब इन्द्रिया की अपने-अपने विषय में अनुकूल प्रवृत्ति होती है। यही 'काम' है, पर विषयोपभोग वास्तव मे बुद्धि का काय है, क्योंकि साख्य दशन के अनुसार आत्मा अकर्त्ता है साक्षी है। आत्मा बुद्धि के द्वारा विषयोपभोग का सुख प्राप्त करता है। यह सुख ही प्रधान काम है। पर विषयोपभोग की इच्छा भी काम कहलाती है। इस प्रकार हेतु और फल के भेद के अनुसार काम द्विविध है। अविद्या शक्ति के द्वारा विषय ज्ञान में समाहित हो जाता है। इससे विषयोपभोग की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा विषय वासना से उद्भूत होती है, अत सामान्यत यह विषय वासना भी 'काम' कहलाती है। यह काम आकषण का स्रोत है, सयोग का हेतु है।[2]

England, are matched or surpassed by Hindu teachings on the subject '
—Jung Modern Man in search of A Soul, p 249

१ श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानामात्मसयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेषु अनुकूल्यत प्रवृत्ति काम । —कामसूत्र, १ २ ११

२ त्वगिति कार्येन्द्रियम्। कामो द्विविध सामान्यो विशेषश्च। तत्र सामान्यमाह-आत्म सयुक्तेन मनसेति। आत्मा समवायिकारणम्, सुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नादिगुणाना तत्र समवायात्। तत्र यदास्य प्रयत्नगुण उत्पद्यते तदाय मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण इत्यनेन क्रमेणाधिष्ठितानाम्। स्वेषु स्वेष्विति-तथान्म शब्दस्पशरूपरसगन्धेषु। यदात्मन शब्दादौ विषया भोक्तुमिच्छा भवति तदा प्राप्याप्राप्यकारिणा श्रोत्रादीना बुद्धीन्द्रियाणामानुलोम्येन या प्रवृत्ति ।
इच्छोपगृहीता शब्दान्विबुद्धिरित्यथ, सा विषयोपभोगस्वभावा काम इत्युपचर्यते, आत्माहि तद्द्वारेण विषय भुजान सुखमनुभवति यत्तत्सुख प्रधान काम —तस्य निबन्धनमिच्छोपगृहीता प्रवृत्ति, सापि काम इत्युच्यते। तस्मादधेतुफलभेदात्सामान्य कामोद्विविध ।

—कामसूत्र, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, जयमगला टीका, पृष्ठ ४२

इस प्रकार सामान्य काम की परिभाषा करके वात्स्यायन विशेष काम का निरूपण करते हैं। आलिंगन चुम्बनादि के आभिमानिक सुख के साथ विशेष स्पर्श के विषय से जो फलवती अर्थप्रतीति होती है, वह 'प्रधान काम' है।[1] स्त्री-पुरुषों के जननेंद्रियों के स्पर्श को यहां विशेष स्पर्श कहा गया है। महत्काम की तीव्र इच्छा इसका कारण है। पुरुष के ऊरु कक्षा आदि तथा स्त्री के नितम्बादि के स्पर्श की प्रतीति को विशेष काम नहीं कह सकते, वह सामान्य काम है।[2] जब यह अर्थप्रतीति फलवती होती है तब वह प्रधान विशेष काम कहलाती है। पुरुषरमणजन्य सुख ही फलवती अर्थप्रतीति है।[3] यह फलवती अर्थप्रतीति जब आलिंगन चुम्बनादि के आभिमानिक सुख से अनुविद्ध होती है तभी उसे प्रधान काम कहते हैं। वियोनि तथा अयोनि में यह अर्थप्रतीति काम में सन्निविष्ट नहीं हो सकती क्योंकि उसमें आभिमानिक सुख का अभाव रहता है।

यह फलवती अर्थप्रतीति, जो विशेष काम का लक्ष्य है, बिना स्त्री-पुरुष सम्प्रयोग के नहीं हो सकती। स्त्री काम का आयतन है, अतः स्त्री के साथ सम्प्रयोग को आयतन सम्प्रयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। रत को आभ्यन्तर सम्प्रयोग कहते हैं और उससे पहले जो बाह्य मिलन होता है उसे बाह्य आयतन सम्प्रयोग। पर पंच इंद्रियों का अपने-अपने विषयों में जो संयोग होता है वह अंग सम्प्रयोग कहलाता है।[4] सम्प्रयोग के रह, रत, शयन, तथा मोहन अपर नाम हैं। उसकी फलावस्था को

---

१ स्पर्शविशेषविषयात्त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः।

—कामसूत्र, १ २ १२

२ तत्र स्त्रीपुंसयोर्यदुपस्थजघन सक्थ्यादि तन्मात्रस्वभाव तत्त्वगिन्द्रियमेव, तस्य कश्चिदेव प्रदेशउपस्थेन्द्रियमुच्यते यो विसृष्टस्यायामानन्दम जनयति। विशेषग्रहणात्पुरुषस्योरुकक्षास्तिनविषये स्त्रियाश्चोरुनाभ्यादिस्पर्शविषय प्रतीतिर्निरस्ता, तस्या अप्रधानत्वात्।

—कामसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, जयमंगला टीका, पृष्ठ ४४

३ तस्या प्रतीतो प्रबन्धेनोत्पद्यमानाया पुनः रणं तत्तु यावत्कालमेव चानन्दाख्यफल सुखमित्युक्तम्।

—वही, पृष्ठ ४४

४ सम्प्रयोगश्च द्विविध, आयतनसम्प्रयोगोऽङ्गसम्प्रयोगश्च। तत्रायतनं कामस्य स्त्र्यधिष्ठानम्, अङ्गानि च मात्रादीनि। तत्र आयतनसम्प्रयोग स च द्विविध, बाह्य आभ्यन्तरश्च। तत्र यो रहसि स आभ्यन्तरा रतास्य, स विशेषकामस्य निमित्तम्। बाह्य समागमनरूपो रतस्य। यश्च बुद्धीन्द्रियाणां यथास्वमर्थे सोऽङ्गसम्प्रयोग इति।

—वही, पृष्ठ ५२

रति, प्रीति, राग, वेग अथवा समाप्ति कहते हैं।[१]

फ्रायड के काम-सिद्धान्त से तुलना

वात्स्यायन और फ्रायड दोनों ने 'काम' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। साधारणत वात्स्यायन द्वारा निरूपित 'विशेष काम' को काम माना जाता है जिसका उद्देश्य है रतिसुख और प्रजनन। पर वात्स्यायन ने श्रोत्रादि इन्द्रियों की उनके विषय में में अनुकूल प्रवृत्ति को भी काम कहा है। इस प्रवृत्ति से उत्पन्न सुख को अंग-सुख कहा जा सकता है। फ्रायड ने भी जननेंद्रिय मिलन मात्र को 'काम' नही माना। शैशव के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन और प्रौढ़ा की यौन विपरीतताओं के परिज्ञान म वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि स्त्री-पुरुष सहवास के अतिरिक्त अन्य रूपों में भी काम की अभिव्यक्ति होती है।[२] उनके मतानुसार समस्त शरीरांगो की सुखद उत्तेजनाओं और उनकी परितुष्टियो को 'काम के अन्तगत रखना समीचीन है। शरीर के जिन अगो में ये उत्तेजनाए पायी जाती हैं, उन्हे फ्रायड ने कामजनक क्षेत्र कहा है। शैशव के प्रारम्भिक दिनो म शिशु का सारा शरीर सवेदनशील होता है और कामजनक क्षेत्र उसके सारे शरीर में व्याप्त रहता है।

वात्स्यायन के समान फ्रायड न भी प्रेक्षण तथा स्पर्श को काम क्रिया म महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।[३] चुम्बन तथा दन्तक्षत के भेदो के द्वारा वात्स्यायन ने मुख-क्षेत्र का स्वस्थ लोगों के काम-व्यवहार के रूप में औपरिष्टक के द्वारा विकृतो के कामाचार के

---

१ रसो रति प्रीतिर्भावो रागो वेग समाप्तिरिति रतिपर्याया। सम्प्रयोगो रत, रहशयन मोहन सुरतपर्याया।

—कामसूत्र, २ १-३२

२ The psychoanalytic study of early childhood and the knowledge of adult perversions compelled him to recognize that sexuality has many manifestations besides the simple genital union of coitus'

—Jones, Sigmund Freud life and work, Vol III, p 316

३ 'At least a certain amount of touching is indispensable for a person in order to attain the normal sexual aim The same holds true in the end with looking which is analogous to touching'

—Freud Three contributions to the theory of sex, in the basic writings of sigmund Freud p 568

रूप में सविस्तार वर्णन किया है। फ्रायड ने भी इन विचित्र रतों का उल्लेख किया है।[1] गुदीय काम को फ्रायड ने मनुष्य के चरित्र विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वात्स्यायन ने अपसामान्य के पायुरत का केवल निर्देश कर उसके प्रति अरुचि प्रकट की है।[2] जननेंद्रिय काम का फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है, वात्स्यायन ने कामशास्त्रीय करण-बन्धों और मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से उसका विश्लेषण किया है।

शुद्ध शारीरिक संवेदनाओं के अतिरिक्त भक्ति, मित्रता, वात्सल्य, सहानुभाव आदि सब प्रेम प्रकारों का समाहार फ्रायड के 'काम' में होता है।[3] ये सब काम के उदात्तीकृत रूप हैं और इन्हीं के द्वारा व्यष्टि तथा समष्टि की धारणा और विकास होता है। इन सब रचनात्मक प्रवृत्तियों को फ्रायड ने 'जिजीविषा' के अंतर्गत रखा है। विशुद्ध और उदात्त प्रेम में शारीरिक तत्त्व निरस्त हो जाता है। पं० राजवाडे ने वात्स्यायनोक्त 'अयन्त्रित रत' को इस 'प्लेटोनिक लव' का ही एक रूप माना है।[4] पर दोनों ने शारीरिक तत्त्व को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना। वात्स्यायन ने कहा है कि आहार के समान काम भी शरीर की स्थिति का हेतु है।[5] यद्यपि आहार से अनेक शारीरिक विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं फिर भी शरीर स्थिति के लिए आहार अनिवार्य है। इसी प्रकार काम से यद्यपि उन्मादादि दोष पैदा होते हैं फिर भी शरीर धारणा के लिए कामसेवन आवश्यक है। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति में अहम् की रक्षा होती है और काम प्रवृत्ति से जातिरक्षा। आहार और काम दोनों में पोषण की शक्ति है जिसका

---

१ 'हेंच काय पण डा० सिगमुंड फ्रायड' म्हणतो, 'फेलाटिओ' (लिंगमणिचूषण) आणि 'क्युनिलिक्टस' (योनिध्वजचूषण) या बाबी मुद्दां स्त्रीपुरुषांच्या ठायीं स्वाभाविक रीत्या उत्पन्न होत असलेल्या दिसल्या तर त्यांत कांही आश्चर्य मानण्याचे कारण नाहीं।

—शंकर रामचंद्र राजवाडे नासदीयसूक्तभाष्य, उत्तरार्ध, खंड दूसरा, पृ० १०५८

२ अधोरतं पायावपि दाक्षिणात्यानाम्।

३ Freud : An Autobiographical Study, p 67 69

—कामसूत्र, २ ६ ४९

४ 'हें अयन्त्रित रत हें शुद्ध मानसिक असल्याकारणानें त्या वर्तुळांतील चौकोनांत प्लेटोचा सोज्ज्वळ प्रणय सामावला जातो।'

—नासदीयसूक्तभाष्य, उत्तरार्ध, पृ० १०८६

५ शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः।

—कामसूत्र, १ २ ३७

सन्निवेश 'जिजीविषा' में होता है। यह 'जिजीविषा' ही व्यापक रूप में काम है।[1] यही लोकैषणा की तृप्ति है, पर इसके साथ अर्थैषणा तथा धर्मैषणा की परितुष्टि भी होती है। अतः काम धर्मार्थ का फलभूत है।[2] यह काम साहित्य का मूलस्रोत है, मोक्ष का साधन है, संस्कृति का मूलाधार है।

प्रायः बालकों में यौन भाव का अभाव माना जाता है, पर फ्रायड ने इस प्रचलित धारणा को निर्मूल सिद्ध कर शैशवीय काम विकास का सिद्धांत प्रतिपादित किया। वात्स्यायन ने भी बालक में यौन भाव का अस्तित्व मानकर धनहीन, हीनकुल तथा माता पिता के अधीन बालक को किसी ऐसी कन्या से अनुराग बढाने का परामर्श दिया है जिसके साथ विवाह करने की उसकी कामना हो।[3] यह असामाजिक भले ही हो पर अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता, क्योंकि फ्रायड द्वारा वर्णित पुरुषलिंगावस्था में ही

---

१ "खाई जाने वाली वस्तु अन्न है और खाने वाला भी अन्न है। अन्न के इस विशद अर्थ में आहार और 'काम' इन दोनों शब्दों में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। उपनिषद् और कामसूत्र के इस तात्त्विक विवेचन को डाक्टर फ्रायड ने कई जगह स्वीकार किया है, यह लिखकर कि— 'जो मैथुन, वासना को और कामशक्ति को नापसन्द करते हैं वे एरास शब्द का प्रयोग कर सकते हैं जिसका तात्पर्य पोषण करने वाली शक्ति है।' आहार उसी श्रेणी में आता है।

'अस्तित्व की कामना ही आदि शक्ति या मूलशक्ति है, इसी से दारैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा की अभिव्यक्ति होती है। अस्तित्व की वासना' की अभिव्यक्ति आहार-ग्रहण में हुआ करती है। यही वासना सारी विश्वक्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का मूल है। अस्तित्व की वासना के जितने भी रूप हैं वे सब 'काम' है।"

—श्री देवदत्त शास्त्री कामसूत्रम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज हिन्दी व्याख्या, पृ ६८

२ फलभूताश्च धर्मार्थयो।

—कामसूत्र १ २ ३७

३ धनहीनस्तु गुणयुक्तोऽपि, मध्यस्थगुणो हीनापदेशो वा, सधनो वा प्रातिवेश्य मातृपितृ भ्रातृषु च परतन्त्र, बालवृत्तिरुचितप्रवेशो वा कन्यामलभ्यत्वान्न वरयेत्। बाल्यात्प्रभृति चैनां स्वयमेवानुरञ्जयेत्। बालायामेव सति धर्माधिगमे संवननं श्लाघ्यमिति घोटकमुख।

—वही, ३ ३ १, २, ५

तीन से सात साल के बालक में ईडिपस ग्रन्थि का निर्माण होता है और परवर्गीय को थपथपाने जसी क्रिया मे उनकी प्रवृत्ति होती है।[1] फ्रायड द्वारा प्रतिपादित इस शैशवीय कामुकता विषयक सिद्धान्त के बीज कामसूत्र के बालोपक्रमणप्रकरण में मिलते हैं।[2]

वात्स्यायन ने रतिरूपिणी प्रीति के अतिरिक्त प्रीति के अन्य चार भेदो का निरूपण किया है—१ आभ्यासिकी, २ आभिमानिकी, ३ सम्प्रत्ययात्मिका, और ४ वैषयिकी। कम व पुन पुन अधिष्ठान या अभ्यास से उत्पन्न प्रीति को आभ्यासिकी प्रीति कहते हैं। इसके मूल में फ्रायड का पुनरावृत्ति दबाव तत्त्व देखा जा सकता है। इस तत्त्व क अनुसार व्यक्ति तनाव को कम करने के हेतु अवचेतन स्तर पर बार बार वही क्रिया करता है जिसस तनाव कम हाता है। यह प्रतीपायन का ऐसा चक्र है जिसके द्वारा मूलप्रवृत्ति का दामन होता है।[3] आभिमानिकी प्रीति सकल्प से उद्भूत होती है, वह मूलत कायिक नही अपितु मानसी होती है। फ्रायडीय सिद्धात के अनुसार पुरुष तथा स्त्री के प्रथम प्रेम विषय क्रमश माता तथा पिता होते ह, बाद की प्रीति सम्प्रत्ययात्मिका कही जा सकती है।[4] वैषयिकी प्रीति फ्रायड द्वारा वर्णित जननेन्द्रिय कामावस्था का एक रूप है।[5]

---

१ मोहन जोशी फ्रायडवाद, तालिका, पृष्ठ ३३

The phallic phase as we have seen begins about the end of the third year when the boy's interest becomes centred upon his penis and this interest soon gives rise to a feeling of sexual attraction towards the mother associated with feelings of jealousy or resentment directed against his father who has thus become the boy s rival in his mother's affections "

—J A C Brown Freud And Post Freudians, p 24

२ कैल्विन हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका, पृष्ठ ३३

'And lastly it is a striking thing that some children (who are on that account regarded as degenerate) take a very early interest in their genitals and show signs of excitation in them '

—Freud Outline of Psychoanalysis, quoted by David Stafford Clark in 'What Freud Really Said' p 89

३ कैल्विन हाल फ्रायड मनोविज्ञान प्रवशिका, पृ० ३३

4 Freud Collected Papers Vol IV p 197

५ कामसूत्र, ३ १ ३६ ४५

वात्स्यायन के नागरक फ्रायड के जातीय वर्गीकरण के अनुसार स्वयरत शृंगार प्रिय हैं। ऐसे लोगों में अहम् और पराहम् के बीच तनाव नहीं होता। आत्मासक्तों में आक्रमण प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है और वे दूसरों पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव अंकित करने में सचेष्ट रहते हैं। शृंगारप्रिय व्यक्ति दूसरों का प्रेम प्राप्त करने की और फलत प्यार किये जाने की तीव्र अभिलाषा रखता है।[1] नागरक का सजधजकर गोष्ठी में सम्मिलित होना, समस्याक्रीडा आदि आमोद प्रमोदों में योग देना और घटा निबन्धनादि का आयोजन करना जसे काय उसकी आत्मासक्ति और शृंगारप्रियता के विभिन्न रूप हैं। अनुलेपन, धूप-ग्रहण, सिक्थक तथा अलक्तक का प्रयोग, दर्पण में छवि देखना जैसे व्यापारों से उनकी शृंगारप्रियता स्पष्ट होती है। लावक, कुक्कुट तथा मेषों के युद्ध देखना उसकी आक्रमण प्रवृत्ति की सन्तुष्टि का एक माध्यम है।[2]

गौनवीय कामविकास के आधार पर भी नागरकवृत्त का परिशीलन किया जा सकता है। वासगृह के प्रबन्ध में उसकी स्वच्छताप्रियता जो गुदीय चरित्र की विशेषता है, परिलक्षित होती है। उसी प्रकार नित्य स्नान दूसरे दिन उत्सादन, तीसरे दिन फेनक का प्रयोग निरन्तर कक्षा के पसीने को सुगन्धित पाउडर से सुखाना आदि क्रियाएँ भी स्वच्छताप्रियता की अभिव्यक्तियाँ हैं।[3] फ्रायड के अनुसार अनिवार्य शारीरिक गन्दगी के

---

1 In the erotic life, not b in loved lo vers the self regarding feelings while being loved raises them We have stated that to be loved is the aim and the satisfaction in a narci ssistic object choice "

—Freud Collected Papers Vol IV p 55

—Freud Complete Psychological Works Vol XXI pp 217 220

२ भोजनान्तर शुकसारिकाप्रलापनव्यापारा।
लावककुक्कुटमेषयुद्धानि तास्ताश्च क्रीडा।
गृहीतप्रसाधनस्यापराह्णे गोष्ठीविहारा।

—कामसूत्र, १ ४ ८ ६

३ नित्य स्नानम्। द्वितीयकमुत्सादनम्।
तृतीयक फेनक। चतुर्थकमायुष्यम्।
सातत्याच्च संवृतकक्षास्वेदापनोद।

—वही, १ ४ ६

प्रति यह प्रतिक्रिया है।[1] समापानर, अभिसारिका के साथ मनोहर आलाप जसे मानेविनोद मात्रिक काम क विभिन्न रूपान्तर ह। अभिसारिकाओ व प्रति आकर्षण, वेश्याओ तथा स्वकीयाओ के साथ क्रीड़ा के द्वारा उसकी वयस्क-लगिकता का उचित विकास सूचित होता है।

वात्स्यायन के नागरक स्वस्थ और सम्पन्न ह। उनमें मनोविकृतियो का अभाव है। लगता है कि वात्स्यायनकालीन नागरसमाज म काम प्रवृत्तियो के स्वस्थ विकास के अनुकूल वातावरण था। कामवृत्तियो की सतुष्टि के अनेक अवसर नागरको को प्राप्त थे। फलत उनका दमन प्राय नहा होता था। समलिंगिकामुकता की विकृतिया से वे मुक्त थे। अत समवयस्को क साथ आमोद प्रमोदो म और विभिन्न सामाजिक सास्कृतिक उत्सवो में वे सम्मिलित होत थे। सास्कृतिक लगिकता तथा स्वाभाविक लैंगिकता म कोइ सघर्ष नही था। वेश्या उस समाज का अभिन्न अग थी। इस प्रकार स्वस्थ भिन्नलिंगिकामुकता क विकास में बाधाएँ नही थी।

नारीविषयक विचार

फ्रायड ने नारी को जविकीय दृष्टि से घटिया माना है। इस तथ्य का उसके चरित्र विकास पर अनिवार्य रूप स प्रभाव पडता है।[2] पुरुष के काम विकास की अपेक्षा स्त्री का काम विकास अधिक जटिल होना है। पुरुष का काम उसके शिश्न में हा केन्द्रित होता है, पर स्त्री का भगशेफ तथा योनि में। पुरुष के काम विकास म केवल एक ही जननेन्द्रियावस्था होती है पर स्त्री के काम विकास में दो अवस्थाए जननेन्द्रिय विकास से सम्बद्ध होती है। अत स्वस्थ काम विकास म स्त्री का पूर्वावस्था म स्थिरण अधिक सम्भवनीय माना गया है जिसके फलस्वरूप वह स्नायु रोगो से पीडित होती है।[3] पुरुषलिंग काम स योनि-काम को ओर विकास म उसकी तुष्णा व्यय हो जाती है और उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। पुरुष क मनोविश्लेषण का उद्देश्य है उसकी विभिन्न क्षमताओ को विकसित करना, पर स्त्री की मनश्चिकित्सा का लक्ष्य होना है उसे स्वाभाविक काम भाव को सौंपना।[4]

---

१ मोहन जोशी फ्राइडवाद, पृ० ९१

2 Freud New Introductory Lectures on Psychoanalysis p 169
Outline of Psychoanalysis p 13

3 "There is only one genital stage for man but there are two for woman she runs a much greater risk of not reaching the end of her sexual evolution remaining at the infantile stage and thus of developing Neuroses"
—Simone de Beauvoir The Second Sex, p 35

4 Freud Collected Papers Vol V p 356

नारी के काम विकास के दो महत्वपूर्ण अंग है—१ भगशेफ को त्यागकर योनि में केंद्रित होना, और २ जननी के स्थान पर जनक को कामालम्बन बनाना। पूर्व काल में भगशेफ में केंद्रित होने के कारण वह माता से अधिक समय तक आसक्त रहती है। अगर उसका विकास अवरुद्ध हो जाय तो उसमें पुरुषत्व ही अधिक होगा उसका स्त्रीत्व विकसित नहीं होगा। नपुंसकीकरण ग्रंथि का उस पर तीन प्रकार से प्रभाव हो सकता है। वह समस्त काम भाव का त्याग सकती है, पुरुषत्व को बनाये रख सकती है, या नारीत्व को अपना सकती है।[1] माता के प्रति उसकी अनन्य आसक्ति उसके चरित्र निर्माण में महत्वपूर्ण है। वह उस पुरुष के प्रति आकर्षित होती है जो उसके पिता के समान हो और फिर उसका माता के प्रति द्वेष उस पुरुष के प्रति द्वेष में परिणत हो जाता है। माता के प्रति आसक्ति को त्यागने पर उसमें ईर्ष्या का प्रादुर्भाव होता है। उसका प्रेम जब अति की सीमा पर पहुँच जाता है तब उसकी परितुष्टि नहीं हो सकती। यह अतृप्ति प्रौढ़ा में भी देखी जा सकती है। जननासक्ति में लड़की प्रथम निष्क्रिय रहती है, पर बाद में वह सक्रिय और आत्मनिर्भर बन जाती है।[2] पर पुरुष लिंगावस्था में वह फिर निष्क्रिय बन जाती है। वृद्धावस्था में प्रतीपायन के कारण उसमें आत्मपीडनतोष का भाव सबल बन जाता है।

इन्द्रियासक्ति और संस्कृति के संघर्ष में स्त्री इन्द्रियासक्ति का और पुरुष संस्कृति

---

1 He postulated three possible lines of deve'opment from the end of the oedipal stage of female infantile sexuality only one of which would lead to normal femininity The first two both of which would result in abnormal development were respectively total renunciation of sexuality with a more or less permanent fixation at a level of regressive infantile neurosis and rejection of femininity in favour of a pseudo-masculine development The third possibility requires the girl to succeed in transferring her interest in penis and her desire for a baby to the father with phantasies of giving him a baby, so that ultimately she accepts female sexuality and the idea of union with a male only after leaving the father behind in the final emancipation of adolescence'

—David Stafford Clark What Freud Really Said pp 162 163

2 Freud Female Sexuality in Collected Papers Vol V pp 252 272

का प्रतिनिधित्व करना है। स्त्री का पराहम् उतना विकसित नहीं होता जितना कि पुरुष का। इस कारण फ्रायड के मतानुसार स्त्री चचला होती है। उसमें सदाचार का भाव कम होता है, मिथ्या अहङ्कार अधिक। उसमें बुद्धि और सामाजिक कल्याण का भाव उतना नहीं होता जितना कि पुरुष में होता है।[1]

स्त्री की इन्द्रियासक्ति और विषयलिप्सा का वर्णन फ्रायड के समान वात्स्यायन ने भी किया है। स्त्री उज्ज्वल पुरुष को देखकर आसक्त हो जाती है और पुरुष सुन्दर स्त्री को देखकर। पर स्त्री में पुरुष पर रीझने की विशेष प्रवृत्ति होती है। उसके पराहम् का उचित विकास नहीं होता, अत वह धर्माधर्म का विवेक न कर पुरुष की कामना करती है। पर पुरुष का पराहम् विकसित होता है, अत वह धर्मस्थिति तथा शिष्टाचार का विवेक करता है और स्त्री की कामना करते हुए भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता।[2]

स्त्री के पुरुषत्व का आविष्करण पुरुषायित में होता है। इसमें उसकी निष्क्रियता सक्रियता में परिवर्तित हो जाती है।[3] इस प्रकार लज्जा और शील के आवरण में ढकी उसकी आक्रमण प्रवृत्ति विपरीत रति में प्रकट हो जाती है।[4] स्त्री के समलिंगिकामुक्तता पूर्ण व्यवहार का वर्णन वात्स्यायन के अन्त पुरिकावृत्तप्रकरण में मिलता है।[5]

रतोपचार और मनोविश्लेषण

काम का अन्तिम लक्ष्य है सहवास के द्वारा प्राप्य सुख जिसे समाप्ति-सुख भी कहते हैं। पर कामोत्तेजना के लिए आलिंगन चुम्बनादि भावक्रीड़ाएँ होनी हैं। इनके द्वारा

---

1 "I cannot escape the notion that for women the level of what is ethically called normal is different from what it is in men Their super ego is never so inexorable so impersonal so independent of its emotional origins as we require it to be in men

—Freud Collected Papers, Vol V

२ न स्त्री धर्ममधर्म चापेक्षते कामयत एव।
कार्यापेक्षया तु नाभियुङ्क्ते। स्वभावाच्च
पुरुषेणाभियुज्यमाना चिकीर्षन्त्यपि व्यावर्तते।
पुन पुनरभियुक्ता सिद्ध्यति। पुरुषस्तु॥
धर्मस्थितिमार्यसमय चापेक्ष्य कामायमानोऽपि व्यावर्तते।

—कामसूत्र, ५ १ १० १३

३ वही, २ ८ ६

४ वही, २ ८ ३६

५ वही, ५ ६ १ ५

प्राप्त सुख को फ्रायड ने प्राक्सुख कहा है।[1] पूर्व जननेंद्रियावस्था में काम प्रवृत्ति प्रायः आत्मकामात्मक होती है, पर जननेंद्रियावस्था में वह बाह्य वस्तु को कामालम्बन बनाती है। इस अवस्था में जननेंद्रिय क्षेत्र की प्रधानता होती है और अन्य क्षेत्र गौण बन जाते हैं। समाप्ति-सुख के उद्देश्य से स्त्री पुरुष की कामप्रक्रियाएं भिन्न हो जाती है। यौन जीवन तभी स्वस्थ और सुखकारी होता है जब दोनों की विभिन्न प्रक्रियाओं में संगति होती है और उन्हें समाप्ति सुख की प्राप्ति की ओर मोड दिया जाता है।

यौन उत्तेजना से उत्पन्न तनाव सुखद होता है और सब काम क्षेत्र इस उत्तेजना में योग देते हैं। पर उत्तेजना जन्य सुख तनाव को और बढ़ाता है और रतिक्रिया की पूर्ति के लिए आवश्यक ऊर्जा को मुक्त करता है। इस प्रक्रिया का लक्ष्य है जननेंद्रियो का रत्यनुकूल उद्दीपन। इस उद्दीपन का शमन होने पर ही समाप्ति सुख मिलता है। इसके बाद लुब्धा का तनाव दूर हो जाता है। इस प्रकार प्राक्सुख के द्वारा समाप्ति सुख की प्राप्ति में योगदान करना अन्य काम क्षेत्रो का कार्य है।[2] इसमें श्रोत्र त्वक्, चक्षु जिह्वा और घ्राण की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति महत्त्वपूर्ण है।

यौन-आवेग को परिचालित करने में स्पर्श का कार्य महत्त्वपूर्ण है। प्राक्क्रीडा में

---

1 'In contrast to the end pleasure or pleasure of gratification of the sexual act we can properly designate the first as fore pleasure'

—Freud : Three Contributions in The Basic Writings p 607

2 They are all utilized to furnish a certain amount of pleasure through their own proper excitation this pleasure increases the tension and in turn serves to produce the necessary motor energy for the completion of the sexual act The lastpart but one of this act is again a suitable excitation of an erogenous zone i e *the genital zone proper of the glans penis is excited* by the object most fit for it the mucous membrane of the vagina and through the pleasure furnished by this excitation it now produces reflexly the motor energy which conveys to the surface the sexual substance This last pleasure is highest in intensity and differs from the discharge and it is altogether gratification pleasure the tension of the libido temporarily subsides with it

—Ibid 606

स्पर्श अनिवार्य है।[1] वास्तव में यौन इन्द्रियानुभूति त्वगिन्द्रिय की अनुभूति ही का परिष्कृत रूप है। स्त्रियों के भावजीवन में इस स्पर्शानुभूति को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसी कारण वात्स्यायन ने कामांगभूत चतुःषष्टि कलाओं में आलिंगन और चुम्बन को प्रथम स्थान दिया है। आलिंगन में समस्त शरीर का स्पर्श निहित है। चुम्बन में अधिकतर ओष्ठ की अनुभूति अंकित को ओष्ठ और जिह्वा के स्पर्श के द्वारा उद्दीपित किया जाता है। नागरसर्वस्वकार भिक्षु पद्मश्री ने योनिस्थित नाड़ियों के उद्दीपन में आलिंगन तथा चुम्बन का महत्त्व स्पष्ट किया है।[2] वात्स्यायन ने ऐसे चुम्बन-स्थानों का उल्लेख किया है जो शरीर के मर्मस्थल हैं और जिनमें उत्तेजना की शक्ति अधिक होती है। चुम्बन मौखिक काम-दशा का यौन आविष्कार है। चुम्बन की बाजी लगाने का विधान ऐसी प्रतियोगिता का आयोजन है जिसके द्वारा परस्पर अनुराग की वृद्धि होती है।[3]

नखच्छेद्य तथा दन्तच्छेद्य भी स्त्री पुरुष की कामवासना को जाग्रत करने तथा राग की वृद्धि करने में सहायक होते हैं। मनोविश्लेषण के अनुसार ये प्राक्क्रीड़ाएँ परपीड़नतोष के अन्तर्गत आती हैं। पर इन्हें विकृतियाँ मानना उचित नहीं होगा। आक्रमण और काम प्रवृत्तियों का स्वस्थ संगलन इनमें होता है। पुरुष प्रायः आक्रामक और सक्रिय होता है, स्त्री आक्रमण विषय और निष्क्रिय। वात्स्यायन ने इसे स्पष्ट करते हुए पुरुष को कर्ता और स्त्री को अधिकरण कहा है।[4] पुरुष सुखोपभोग करता हुआ सोचता है 'मैं अभियोक्ता हूँ' और स्त्री सोचती है 'मैं अभियुक्ता हूँ।' अतः पुरुष में परपीड़नतोष तथा

---

1 'At least a certain amount of touching is indispensable for a person to attain the normal sexual aim It is also generally known that touching of the skin of the sexual object causes much pleasure and produces a supply of new excitement
—Ibid 568

२ सती कुचे सती कर्णे सुभगोष्ठे च दुर्भगा।
नित्यं तुण्डे स्थिता पुत्री नितम्बे तु दहित्रिणी॥
—नागरसर्वस्व, १६ ११

3 Freud Three Contributions, in The Basic Writings p 601

४ कथमुपायवैलक्षण्य तु सर्गात्।
कर्ता हि पुरुषोऽधिकरण युवति।
अभियोक्ताहमिति पुरुषोऽनुरज्यते।
अभियुक्ताहमनेनेति युवतिरिति वात्स्यायन।
—कामसूत्र, २ १ २६

स्ना में आत्मपीड़नतोष का होना स्वाभाविक है।[1]

इसी प्रकार प्रहणन परपीड़नतोष का और सीत्कृत आत्मपीड़नतोष का रूप माना जा सकता है। सुरत कलहरूप होता है। रतिक्रिया के वर्णन में सांग्रामिक शब्दावली का प्रयोग इसी कारण किया जाता है। पुरुष स्त्री पर पूर्ण अधिकार कर लेना चाहता है उसे जीतना चाहता है। अत पुरुष की प्रेमक्रीड़ा में एक तरह का वीररस होता है, स्त्री उसकी शरणागत होती है, जित होती है।[2] पर स्त्री के अगो में प्रहार करते समय पुरुष को उसकी कोमलता पर ध्यान देना पड़ता है, अन्यथा ये प्रहार सुखकर एव कामोत्तेजक नही होते। वात्स्यायन ने क्रूरतापूर्ण प्रहरणों के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है।[3]

आलिंगन चुम्बनादि सब रति-पूर्व प्रेमक्रीड़ाएँ दम्पति में परस्पर प्रेम, विश्वास, एकता तथा कामावेग की वृद्धि करती हैं।[4] इन क्रीड़ाओं स प्रयोज्य अगो में सुखद

---

1 Freud saw sadism as an extension of the normal aggressiveness and physical and emotional dominance necessary for one partner to secure full sexual union with another In human beings he regarded this as an essentially male characteristic Sexual activity and sexual passivity corresponded respectively to sadism and masochism in humans to normal male and female characteristics "

—David Stafford Clark What Freud Really Said p 102

2 'The generative act consisting in the occupation of one being by another, implies on the one hand the idea of a conqueror on the other something conquered Indeed, when referring to their love relations the most civilized sp-ak of conquest, attack assault siege and of defense defeat surrender clearly shaping the idea of love upon that of war

—Benda quoted by Simone de Beauvoir in the Second Sex', p 351

३ रतियोगे हि कीलया गणिकां चित्रसेनां चोलराजो जघान।
कर्तर्या कुन्तल शातकर्णि शातवाहनो महादेवीं मलयवतीम्॥
नरदेव कुपाणिविद्धया दुष्प्रयुक्तया नटीं काणां चकार।

—कामसूत्र, २ ७ २८ ३०

४ पृच्छता शृण्वता वापि तथा कथयतामपि।
उपगूहविधिं कृत्स्नं रिरसा जायते नृणाम्॥
नान्यत्पटुतरं किंचिदस्ति रागविवर्धनम्।
नखदन्तसमुत्थानां कर्मणां गतयो यथा॥

—कामसूत्र, २ २ २६, २ ४ ३१

सवेदनाएँ उत्पन्न होती है, पर ये सवेदनाएँ तनाव का और बढाती है और सयोग की अभिलाषा को और तीव्र करती है। यह तनाव पूर्णरूप से तभी निरस्त हो पाता है जब दोनो को समाप्ति-सुख की प्राप्ति होती है।

फ्रायड ने इन प्राक्क्रीडाओ को दोनवीय काम विकास से सम्बद्ध कर इनके विकृतिया में परिवर्तित होने की चर्चा की है। स्पर्श सुख आत्मकामात्मक अवस्था की विशेषता है जिसमे समस्त शरीर काम क्षेत्र बन जाता है। चुम्बन और दन्तक्षत मौखिक अवस्था के दो रूप हैं जिनमें चूषण और दातो से काटने की क्रियाओ की अभिव्यक्ति होती है। चुम्बन से बचना एक नकारात्मक क्रिया मानी जा सकती है। नखक्षत गुदीय अवस्था की परपीड़नात्मक क्रिया है और प्रहरण तथा सीत्कार पुरुषलिंगावस्था की क्रमश सक्रियता और निष्क्रियता की अनुवृत्ति है। पर इन प्राक्क्रीडाओ में ही चरम रतिसुख मानने पर इनमें स्थिरण हो जाता है और सामान्यत यौन क्रिया की परिपूर्ति नही हो सकती। जब इस प्रकार यौन प्रक्रिया का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तब प्राक्क्रीड़ा चरम प्रक्रिया का स्थान ग्रहण करती है। वास्तव में यौन प्रवृत्ति की य आशिक प्रेरणाएँ है और उनका काम है अंतिम यौन-सुख की प्राप्ति म योग देना। पर इनम स्थिरण अथवा प्रतीपायन जब होता है तब यौन विच्युतियो की सृष्टि होती है। यौन प्रक्रिया की प्रारम्भिक अवस्था में विलम्बन इन विच्युतियों का मूल कारण है।[1] फ्रायड ने इन विच्युतियो का ही अधिक विवेचन किया है, पर वात्स्यायन ने रतितन्त्र का विश्लेषण करते हुए इनका उल्लेख किया है और अपना निर्णायक मत देकर इनके प्रति अरुचि प्रकट की है। कीला, कतरी, विद्धा और सदशिका जसे प्रहणनों को उन्होंने कष्ट कर एव अनार्यजुष्ट कहा है।[2] वात्स्यायनीय कामशास्त्र का ज्ञाता कामातुर होने पर भी ऐसे निन्दनीय कामाचारो को नही अपनाता है।[3]

इन प्राक्क्रीड़ाओ के मूल में उभयात्मकता निहित है। फ्रायड द्वैतवादी थे और

---

1 'Indeed, the mechanism of many perversions is of such a nature the perversion merely represents a lingering at a preparatory act of the sexual process'

—Freud The Transformation of Puberty, in The Basic Writings p 607

२ कष्टमनार्यवृत्तमनादृतमिति वात्स्यायन ।

—कामसूत्र, २ ७ २५

३ न सर्वत्र सर्वासु प्रयोगा साम्प्रयोगिका ।
स्थाने देशे च काले च योग एषा विधीयते ॥

—वही, २ ७ ३५

प्रेम तथा द्वेष, सुख तथा दुःख, आक्रमण तथा प्रतिग्रहण के युगपत् अस्तित्व में विश्वास करते थे। नखविलेखन, दन्तक्षत तथा प्रहणन में इस द्विभाव की स्थिति होती है।

विवाह

व्यक्तियों के परस्पर सहानुभाव और प्रेम पर ही संगठित समाज की धारणा निर्भर करती है। वास्तव में सहानुभाव और प्रेम काम के ही ऐसे रूप हैं जिनमें इन्द्रियासक्ति तिरोहित हो जाती है।[1] काम के ये अकामीकृत अथवा उदात्तीकृत रूपान्तर हैं। पर काम और प्रेम का सुन्दर समन्वय दाम्पत्य जीवन में स्थापित होता है। विवाह एक ऐसी समाजसम्मत और धर्मानुकूल प्रविधि है जिसके द्वारा स्त्री पुरुष के जीवन में भोगलिप्सा और उच्चाशयिता सन्तुलन में बंध जाती हैं। विवाह के द्वारा एक ऐसा परिष्कृत यौन सम्बन्ध स्त्री पुरुष में स्थापित हो जाता है जो समाज और धर्म के विधिनिषेधों से नियमित और नियन्त्रित होता है। इस कारण कामशास्त्र और मनोविश्लेषण दोनों में विवाह का विवेचन अनिवार्य है। वात्स्यायन और फ्रायड दोनों ने इसकी विवेचना की है।

फ्रायड ने काम विकास और संस्कृति विकास की तीन समरूप अवस्थाएँ मानी हैं। प्रथम अवस्था में काम प्रवृत्ति प्रजनन से भिन्न उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त होता है। दूसरी अवस्था में प्रजनन के लिए आवश्यक अंश को छोड़कर अन्य सब प्रवृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं। तीसरी अवस्था में वैध प्रजननमात्र कामप्रवृत्ति का उद्देश्य माना जाता है। इस तीसरी अवस्था को फ्रायड ने सांस्कृतिक यौन नैतिकता कहा है।[2] इसके अनुसार व्यक्ति को सभ्यता के आदर्शों के अनुकूल विवाह तक ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है। पर अनेक व्यक्ति सभ्यता की इन मांगों की पूर्ति नहीं कर सकते, इने गिने व्यक्ति ही काम प्रवृत्ति का उन्नयन कर सकते हैं। काम प्रवृत्ति के निरोध में अक्षम होने के कारण वे स्नायुरोगग्रस्त बन जाते हैं। फ्रायड के मतानुसार उदात्तीकरण विशेष रूप से स्त्रियों के लिए दुःसाध्य होता है क्योंकि उनकी यौन प्रवृत्तियां अधिक आवेगशील होती हैं। समाज वैध मैथुन पर भी कड़े निबन्ध लगाता है। अतः तुष्टिकारक मैथुन

---

1 'As we saw before love minus sensuality is affection and according to the Freudian school this desensualisation of homo sexual interest leaves behind the affection that forms the basis of the social fe ling found between adult members of the same sex '

—Nicole Normal And Abnormal Psychology p 53

2 Freud : Civilized Sexual Morality And Modern Nervousness in Collected Papers, Vol II, p 84

विवाह के केवल प्रारम्भिक वर्षों में ही सम्भव होता है। मैथुन के परिणामों की चिंता व्यक्ति को शारीरिक कोमलता को भी नष्ट करती है और उसके प्रेमभाव को भी। अत वैवाहिक जीवन की निराशा से स्त्री बड़े सख्त स्नायुरोग से पीड़ित रहती है। उसके पातिव्रत की रक्षा यह बीमारी ही करती है। मानसिक निराशा और शारीरिक क्षति के कारण पति तथा पत्नी दोनों ना विवाहपूर्व अवस्था म प्रत्यावर्तन होना है। श्रम-निवृत्ति के कारण वे और भी अक्षम बन जाते है और काम प्रवृत्ति को निरुद्ध करने तथा ध्यान स्थान लेने के निश्चय पर लौट आते है।[1] एकविवाह में स्थायी रूप से आदर्श पति पत्नी हो का वातावरण आधुनिक सभ्यता में वाञ्छनीय बन गया है।[2] विवाह के द्वारा इस परिस्थिति में प्रबल काम प्रवृत्ति की परितुष्टि सम्भव नहीं है। फ्रायड ने एक नर्मोक्ति के द्वारा इसे स्पष्ट किया है। नर्मोक्ति है 'स्त्री एक छाता है, बुरी से बुरी दशा में कोई किराये की गाडी की भी सवारी कर सकता है।' किराये की गाडी म तात्पर्य यहा वेश्या से है।[3] सभ्यता और यौन-आवेग के बीच जो तनाव होता है उसे फ्रायड कम करने के पक्ष में हैं, पर इसके लिए उन्होंने कोई विधायक सुझाव नहीं दिया है।

फ्रायड ने उपर्युक्त विचार आधुनिक पाश्चिमात्य सभ्यता के सन्दर्भ म व्यक्त किये हैं। अत आश्चर्य नहीं कि प्राचीन भारतीय सभ्यता के आदर्श को अपनानेवाले वात्स्यायन के विचारों से वे मेल नहीं खाते। वात्स्यायन आदर्शवादी थे, फ्रायड यथार्थवादी। फ्रायड का यथार्थवाद मानसिक नियतिवाद का रूप धारण कर लेता है। वात्स्यायन के कामसूत्र का परिशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय सभ्यता में यौन आवेग को दमित करनेवाली शक्तियाँ बहुत कम थी। विवाहित स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी। विवाह एक आध्यात्मिक सम्बन्ध था जो पति-पत्नी को एकता के सूत्र में आबद्ध करता था। फिर भी वात्स्यायन का परपरिणीता को नायिका मानना यह सूचित करता है कि उस समय भी कुछ विवाह अवश्य असफल रहे होंगे और यौन आवेग की सन्तुष्टि के लिए विवाहित स्त्रियाँ पर-पुरुष की तथा विवाहित पुरुष पर-स्त्री की कामना करते होंगे। फ्रायड ने एकविवाह प्रथा की आलोचना

---

1 Ibid, pp 88 93

2 Freud Civilization And Its Discontents in Complete Psychological Works p 105 (vol XXI)

3 A wife is like an umbrella at worst one may also take a cab"

—Freud Wit And Its Relation to The Unconscious in The basic Writings p 704

की है। वात्स्यायन ने इसकी चर्चा इसलिए नहीं की है कि उस समय पुरुष कई विवाह कर सकता था। कामसूत्र के ज्येष्ठादिवृत्तप्रकरण से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है।

कामसूत्र में विवाह सम्बन्ध ही धर्म्य, पुत्र धन की प्राप्ति करानेवाला और रतिसुख देनेवाला माना गया है।[1] पर वेश्या और पुनर्भू के साथ कामसम्बन्ध निषिद्ध नहीं है।[2] यह सम्बन्ध केवल विषय सुख के लिए ही स्थापित किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि नागरक की अतृप्त कामवासना की अभिव्यक्ति के लिए उस समय प्रभूत अवसर मिलता था। उदयानक्रीडा समापानक, समस्याक्रीडा, गोष्ठीविहार आदि आमोद प्रमोदों में नागरकों को वेश्याओं का सहयोग प्राप्त था।[3] यक्षरात्रि, कौमुदीजागर, घटानिबन्धन, मन्नोत्सव आदि की आयोजना से कामभाव को स्वस्थ दिशा में मोडना सम्भव था।

वात्स्यायन ने अनन्यपूर्वा कन्या का सवरण करना वाञ्छनीय माना है।[4] काया, वाचा तथा मन की दृष्टि से अदत्ता कन्या को विवाह के लिए चुनने की परिपाटी प्राय सभी सभ्यताओं में प्रचलित है। कुमारीत्व स्त्री का पावित्र्य का अनिवार्य अंग माना जाता रहा है। स्त्री पर एकाधिकार स्थापित करने का पुरुष भाव इसके मूल में निहित है। इसे फ्रायड ने एकविवाह का सार तत्व माना है। ऐसी कन्या पुरुष के साथ स्थायी सम्बन्ध में आबन्ध होती है। वह अपने अवरुद्ध काम भाव को प्रकट करती हुई उस पुरुष के साथ ऐसा अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित करती है जो फिर किसी अन्य पुरुष के साथ स्थापित नहीं हो सकता। इसमें स्त्री की पुरुषवशता प्रकट होती है जिसे फ्रायड ने विवाह-सम्बन्ध को अटूट बनाने में सहायक माना है।[5]

दाम्पत्य जीवन की सुचारुता प्रथम सहवास की सफलता से सम्बद्ध है। वात्स्यायन ने इस कारण कन्या विस्रम्भण का महत्व निरूपित किया है। नवोढा के लज्जावश किये गये वारणार्थक व्यापार पुरुष को अधिक कामोत्तेजित करते हैं। ये बाधाएँ कामोद्दीपन में सहायक होती हैं।[6] वात्स्यायन और फ्रायड दोनों ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर

---

१ सवर्णायामनन्यपूर्वायां शास्त्रतोऽधिगतायां धर्मोऽर्थः पुत्राः सम्बन्धः पक्षवृद्धिरनुपस्कृता रतिश्च। —कामसूत्र, ३ १ १

२ वेश्यासु पुनर्भूषु च न शिष्टो न प्रतिषिद्धः। सुखार्थत्वात्। —वही, १ ५ २

३ वही, १ ४ १६, २०, २३, २५

४ वही, ३ १ १

5 Freud Taboo of Virginity, Collected Papers, Vol IV, p 217

6 Some obstacle is necessary to swell the tide of libido to its height'
—Freud Collected Papers, Vol IV p 213

संकेत किया है। वात्स्यायन का कथन है कि पुरुष प्रायः सुलभा की उपेक्षा करता है और दुर्लभा की कामना करता है।[1] उनका यह परामर्श कि पुरुष नवोढ़ा की कोमलता का ध्यान रखकर सुकुमार उपक्रम करे मनोविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[2] अगर प्रथम सहवास के समय पुरुष स्त्री पर अत्याचार करता है तो वह सम्प्रयोगद्वेषिणी बन जाती है।[3] यह प्रथम अनुभव उसके लिए कष्टकर और कुण्ठाजनक सिद्ध होता है। वह कामशून्य और असन्तुष्ट रहती है। यह प्रथम सहवासकालीन कामशैत्य बाद में स्थायी बन जाता है और पति अपने निश्छल एवं प्रगाढ़ प्रेम से भी उसका निराकरण नहीं कर सकता।[4]

धर्म

'कामसूत्र' का प्रयोजन है 'काम' का वैज्ञानिक विवेचन करना और स्त्री पुरुषों को रतिसुख की प्राप्ति के उपायों की शिक्षा देना। पर स्त्री पुरुष सम्बन्ध को कामसूत्रकार केवल कायिक नहीं मानते। उनका कथन है कि कामशास्त्र का ज्ञाता धर्मार्थ के अनुकूल कामाचरण करता है।[5] वात्स्यायन ने ग्रन्थारम्भ में तीनों पुरुषार्थों और उनका निरूपण करने वाले आचार्यों की वन्दना की है।[6]

वात्स्यायन ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ माना है। यह धर्म प्रवृत्ति निवृत्ति रूप है। उसके दो अंग हैं—१ पारलौकिक तथा अगोचर फल प्रदान करने वाले यज्ञादि कार्यों में प्रवृत्ति, और २ मांस भक्षणादि कार्यों से निवृत्ति।[7] धर्मशास्त्र का यह उभयात्मक

---

१ सुलभामवमन्यते। दुर्लभामाकाङ्क्षत इति प्रायोवादः। —कामसूत्र, ५ १ १९

२ कुसुमसधर्माणो हि योषितः सुकुमारोपक्रमाः। —वही, ३ ३ ६

३ तास्त्वनधिगतविश्वासैः प्रसभमुपक्रम्यमाणाः सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवन्ति। —वही

4 From these cases of merely initial and quite temporary frigidity there proceeds a gradation upto the unsatisfactory extreme case of permanent and unremitting frigidity which not the utmost tenderness and eagerness on the part of the husband is able to overcome

—Freud Taboo of Virginity Collected Papers Vol IV pp 226 227

५ तदेतत्कुशलो विद्वान्धर्मार्थाववलोकयन्। नातिरागात्मकः कामी प्रयुञ्जानः प्रसिध्यति॥ —कामसूत्र, ७ २ ५९

६ धर्मार्थकामेभ्यो नमः। शास्त्रे प्रकृतत्वात्। तत्समयावबोधकेभ्यश्चाचार्येभ्यः। —वही, १ १ १३

७ —वही, १ २ ७

या विधिनिषेधात्मक रूप वात्स्यायन को स्वीकाय है। धम की शिक्षा मनुष्य वेदों और धमनो से ग्रहण करता है। पर धम का फल अलौकिक और अगोचर होता है अत लौकायतिक धर्माचरण में विश्वास नही करते। व कहते ह कि भविष्य की आशा में कान मूख वतमान सुख को त्याग देगा।[1] अध्यात्मवादी वात्स्यायन इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए धर्माचरण का महत्व प्रतिपादित करते है। उनका तक है कि शास्त्र अभिशङ्का के पर है, शास्त्रोक्त कर्मों का फल इसी जन्म में मिलता है। भविष्य मे मिलने वाले अनाज की आशा स जसे हस्तगत बीज को हम त्याग देते हैं वैसे ही अलौकिक फल की आशा स लौकिक सुख का त्याग आवश्यक है।[2]

इसके विपरीत फ्रायड धम को एक व्यापक भ्रम मानते है। धम की मनोवैश्लेषिक व्याख्या प्रस्तुत कर उन्होने सस्कृति के विकास में उसके स्थान पर बुद्धिप्रामाण्यवादी विज्ञान को प्रतिष्ठित करना आवश्यक माना है। यद्यपि मनोविश्लेषण स्वय न तो धमवादी है न अधमवादी, फिर भी फ्रायड का धमविश्लेषण धम विरोध से प्रेरित है।

ईश्वर भावना तथा ईडिपस ग्रथि में उन्होने अटूट सम्बन्ध देखा। उनका कथन है कि ईश्वर पिता का ही एक विशाल रूप है। अत धम का मूल जनक ग्रथि में निहित है।[3] धम में शिशु का अपने पिता स सम्बन्ध बहि प्रक्षेपित होता है। धम एक इच्छा मूलक चिन्तन है जिसके द्वारा मानव जाति की कठोर यथाथ से पलायन करने की इच्छा अभिव्यक्त होती है। यह इच्छा शिशु क जनक प्रेम का ही एक रूप है। निमम नियति और कठोर विश्व के साथ जब उसका सघष छिड जाता है तब मनुष्य अपनी दुबलता तथा असहायता अनुभव करता है। बाह्य तथा आन्तरिक सकटो से अपनी रक्षा करने वाले पिता का बिम्ब तब उसक मन म उभर आता है। इसी को वह ईश्वर कहता है। इस प्रकार मनुष्य ईश्वर को जगत्पिता के रूप म परिकल्पित करता है, क्योंकि पिता ही अपने पुत्रों की आवश्यकताओ को जान सकता है प्राथना से द्रवित हो सकता है,

---

१ वरमद्यकपोत श्वो मयूरात्। वर साशयिकान्निकादसाशयिक कार्षापण। इति लौकायतिका। —वही, १ २ २३ २४

२ हस्तगतस्य च बीजस्य भविष्यत सस्यार्थे त्यागदर्शनाच्चरेद्धर्मानिति वात्स्यायन। —वही, १ २ २५

3 —the beginnings of religion ethics society, and art meet in the Oedipus Complex '

—Freud Totem and Taboo in The B sic Writings p 927

त्रिविध तापों से उबार सकता है।[1]

फ्रायड ने कर्म काण्ड तथा बाध्यता स्नायुरोग में समानता देखकर धर्म को व्यापक बाध्यता-स्नायुरोग कहा है। धार्मिक कर्म-काण्ड का सम्पादन मनुष्य के पाप भाव से सम्बद्ध है। कर्मकाण्ड के द्वारा वह अपनी मूलप्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना चाहता है। धर्म तथा बाध्यता-स्नायुरोग में कर्मकाण्ड की प्रेरणा अवचेतन से मिलती है, पर अन्य प्रेरणाएँ उसका स्थान चेतना में ग्रहण करती हैं। धार्मिक व्यक्ति तथा बाध्यता स्नायु रोगी दोनों बाध्यताओं और प्रतिषेधों से पीड़ित रहते हैं। उनके अवचेतन में स्थित पाप भाव से चिन्ता का उद्‌भव होता है। उससे रक्षा का उपाय है कर्मकाण्ड। बाध्यता स्नायुरोग ऐसा रक्षात्मक उपाय है जिससे मनुष्य अपनी शैशवीय अगम्यागमनेच्छा से रक्षा करता है, उसी प्रकार धार्मिक कर्मकाण्ड भी एक रक्षात्मक उपाय है जिसके द्वारा समस्त समाज अपने यौन नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह से उत्पन्न पाप भाव से आत्मरक्षा करता है। प्रार्थना पूजा आदि ऐसे ही रक्षात्मक उपाय हैं।[2]

फ्रायड द्वारा प्रस्तुत टोटम धर्म की व्याख्या इस संदर्भ में अवेक्षणीय है। फ्रायड ने डार्विन की इस कल्पना को स्वीकार किया कि प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य समूहों में रहते थे। प्रत्येक समूह में एक प्रबल और एकाधिकारी पिता होता था जो सब स्त्रियों को अपने उपभोग के लिए रखता था और सब पुत्रों को ईर्ष्यावश निष्कासित कर देता था। इस कल्पना को फ्रेजर और स्मिथ जैसे नृतत्त्वशास्त्रों के गणचिह्नवाद से मिलाकर फ्रायड ने आदिम समाज का एक चित्र प्रस्तुत किया जिसमें सब निष्कासित भाइयों ने अपने पिता की हत्या की और उसका मांस भक्षण किया। इस प्रकार ईर्ष्या वश पितृहत्या कर उन्होंने पिता के साथ तादात्मीकरण की अपनी इच्छा की परितुष्टि की। पर पिता के प्रति जब उनकी कोमल भावनाएँ उभर आयीं, उन्हें बड़ा पछतावा हुआ

---

1 'It can clearly be seen that the possession of these ideas protects him in two directions—against the dangers of nature and Fate and against the injuries that threaten him from human society itself

—Freud : The Future of Illusion, Complete Psychological Works, Vol XXI, p p 17 18

2 "Obsessional neuroses are a defence against incestuous wishes and rebellians of childhood religious practices are a defence against the same fear, now among the entire community as a sense of guilt for the aggressive and rebellious wishes against the sexual morality of their community '

—David Stafford Clark What Freud Really Said, p 181

८

या विधिनिषेधात्मक रूप वात्स्यायन को स्वीकार्य है। धर्म की शिक्षा मनुष्य वेदों और धर्मज्ञों से ग्रहण करता है। पर धर्म का फल अलौकिक और अगोचर होता है अत लोकायतिक धर्माचरण म विश्वास नही करते। वे कहते ह कि भविष्य की आशा में कौन मूर्ख वर्तमान सुख को त्याग देगा।[1] अध्यात्मवादी वात्स्यायन इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए धर्माचरण का महत्व प्रतिपादित करते है। उनका तर्क ह कि शास्त्र अभिशंका के परे है, शास्त्रोक्त कर्मों का फल इसी जन्म में मिलता है। भविष्य म मिलने वाले अनाज की आशा स जसे हस्तगत बीज को हम त्याग देते हैं वैसे ही अलौकिक फल की आशा से लौकिक सुख का त्याग आवश्यक है।[2]

इसके विपरीत फ्रायड धर्म को एक व्यापक भ्रम मानते हैं। धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर उन्होंने संस्कृति के विकास में उसके स्थान पर बुद्धिप्रामाण्यवादी विज्ञान को प्रतिष्ठित करना आवश्यक माना है। यद्यपि मनोविश्लेषण स्वय न तो धर्मवादी है न अधर्मवादी, फिर भी फ्रायड का धर्मविश्लेषण धर्म विरोध स प्रेरित है।

ईश्वर भावना तथा ईडिपस ग्रथि म उन्होंने अटूट सम्बन्ध देखा। उनका कथन है कि ईश्वर पिता का ही एक विशाल रूप है। अत धर्म का मूल जनक ग्रथि में निहित है।[3] धर्म में शिशु का अपने पिता से सम्बन्ध बहिः प्रक्षेपित होता है। धर्म एक इच्छा मूलक चिंतन है जिसके द्वारा मानव जाति की कठोर यथार्थ से पलायन करने की इच्छा अभिव्यक्त होती है। यह इच्छा शिशु के जनक प्रेम का ही एक रूप है। निर्मम नियति और कठोर विश्व के साथ जब उसका संघर्ष छिड़ जाता है तब मनुष्य अपनी दुर्बलता तथा असहायता अनुभव करता है। बाह्य तथा आन्तरिक संकटों से अपनी रक्षा करने वाले पिता का बिम्ब तब उसके मन म उभर आता है। इसी को वह ईश्वर कहता है। इस प्रकार मनुष्य ईश्वर को जगत्पिता के रूप म परिकल्पित करता है क्योंकि पिता ही अपने पुत्रों की आवश्यकताओं को जान सकता है, प्रार्थना से द्रवित हो सकता है,

---

१ वरमद्य कपोत श्वो मयूरात्। वर सांशयिकान्निष्कादसांशयिक कार्षापण। इति लोकायतिका। —वही, १ २ २३ २४

२ हस्तगतस्य च बीजस्य भविष्यत सस्यार्थे त्यागदर्शनाच्चरेद्धर्मानिति वात्स्यायन। —वही, १ २ २५

3 —the beginnings of religion ethics society, and art meet in the Oedipus Complex ’

—Freud Totem and Taboo in The B sic Writin_s p 927

त्रिविध तापों से उबार सकता है।[1]

फ्रायड ने कर्मकाण्ड तथा बाध्यता स्नायुरोग में समानता देखकर धर्म को व्यापक बाध्यता स्नायुरोग कहा है। धार्मिक कर्म-काण्ड का सम्पादन मनुष्य के पाप भाव से सम्बद्ध है। कर्मकाण्ड के द्वारा वह अपनी मूलप्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना चाहता है। धर्म तथा बाध्यता-स्नायुरोग में कर्मकाण्ड की प्रेरणा अवचेतन से मिलती है, पर अन्य प्रेरणाएँ उसका स्थान चेतना में ग्रहण करती है। धार्मिक व्यक्ति तथा बाध्यता स्नायु रोगी दोनों बाध्यताओं और प्रतिषेधों से पीड़ित रहते है। उनके अवचेतन में स्थित पाप भाव से चिन्ता का उद्भव होता है। उससे रक्षा का उपाय है कर्मकाण्ड। बाध्यता स्नायुरोग ऐसा रक्षात्मक उपाय है जिससे मनुष्य अपनी शैशवीय अगम्यागमनेच्छा से रक्षा करता है, उसी प्रकार धार्मिक कर्मकाण्ड भी ऐसा रक्षात्मक उपाय है जिसके द्वारा समस्त समाज अपने यौन नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह से उत्पन्न पाप भाव से आत्मरक्षा करता है।[2] प्रार्थना पूजा आदि ऐसे ही रक्षात्मक उपाय हैं।

फ्रायड द्वारा प्रस्तुत टोटम धर्म की व्याख्या इस सन्दर्भ में अवेक्षणीय है। फ्रायड ने डार्विन की इस सङ्कल्पना को स्वीकार किया कि प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य समूहों में रहते थे। प्रत्येक समूह में एक प्रबल और एकाधिकारी पिता होता था जो सब स्त्रियों को अपने उपभोग के लिए रखता था और सब पुत्रों को ईर्ष्यावश निष्कासित कर देता था। इस सङ्कल्पना को फ्रेजर और स्मिथ जैसे नृतत्त्वशास्त्रों के गणचिह्नवाद से मिलाकर फ्रायड ने आदिम समाज का एक चित्र प्रस्तुत किया जिसमें सब निष्कासित भाइयों ने अपने पिता की हत्या की और उसका मांस भक्षण किया। इस प्रकार ईर्ष्या वश पितृहत्या कर उन्होंने पिता के साथ तादात्मीकरण की अपनी इच्छा की परितुष्टि की। पर पिता के प्रति जब उनके कोमल भावनाएँ उभर आयी, उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ

1 It can clearly be seen that the possession of these ideas protects him in two directions—against the dangers of nature and Fate and against the injuries that threaten him from human society itself'

—Freud : The Future of Illusion, Complete Psychological Works, Vol XXI p p 17 18

2 "Obsessional neuroses are a defence against incestuous wishes and rebellions of childhood, religious practices are a defence against the same fear, now among the entire community as a sense of guilt for the aggressive and rebellious wishes against the sexual morality of their community

—David Stafford Clark What Freud Really Said, p 181

और उनके मन में पाप भाव की सृष्टि हुई। अत गणचिह्नात्मक प्राणी की हत्या को उन्होने निषिद्ध कर दिया, क्योंकि यह प्राणी पिता का स्थानापन्न रूप था। साथ ही विमाचित स्त्रियो के प्रति काम भाव को उन्होने प्रतिषिद्ध कर दिया। इससे अगम्यागमन की इच्छा तथा पितृहत्या का परिमाजन हुआ। पर इसम उद्भूत पाप भाव बाद में समस्त मानवजाति म सक्रमित हुआ और समाज में ये दोनो घोर पातक माने गये।[1] सगोत्र विवाह के निषेध का मूल इसी म निहित है। इस नृतत्त्वशास्त्रीय घटना के समरूप ईडिपस ग्रथि म पाये जाते ह। टोटम धर्मी समाज म पिता और पुत्री तथा सास और दामाद को एक दूसरे से अलग कर दिया जाता है। पुत्र की दीक्षा विधि म अण्डोच्छेदन भय स सहायता ली जाती है। इस प्रकार टोटम के द्वारा बलवती ग्रथि की प्रतीकात्मक ढग से परितुष्टि होती है।[२]

इस गणचिह्नात्मक धर्म का विकास बाद म एकेश्वरवाद मे हुआ। प्राय यह देखा जाता है कि जहा पितृ वध का दमित स्मृति आवेगपूर्ण ढग स अभिव्यक्त होती है, वहाँ एकेश्वरवाद का प्रभाव अधिक होता है। यहूदी तथा ईसाई धर्म में यही तथ्य चरितार्थ हुआ। यहूदियो ने मूसा की हत्या की, तब उनकी आदिम पिता के वध से सम्बन्धित दमित स्मृतियाँ यहोवा पूजा म परिणत हो गयी और मूसा द्वारा प्रतिपादित एकेश्वरवाद का बल मिला। ईसा मसीह के वध के बाद भी यही दमित स्मृति पुनर्जीवित हुई और ईसाइयो ने भी एकेश्वरवाद को स्वीकार किया।[3]

अतीतकालीन समाज के विकास की दृष्टि स फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक उपयोगिता

---

1 Freud suggested that the young men had in fact risen in a body to murder their father and gain possession of his women But once they had done this they were overcome by a tremendous collective sense of guilt and a need for expiation "
—Ibid P 183 Freud Totem And Taboo in The Basic Writings pp 915 917

२ डा० या-मसीह मनोविश्लेषण और फायडवाद की रूपरेखा, १९५४, पृ० २७२

3 The awakening however of the memory trace through a recent real repetition of the event is certainly of decisive importance The murder of Moses was such a repetition and later on the supposed judicial murder of Christ so that these events move into the fore ground as causative agents It seems the genesis of monotheism would not have been possible without these events '

—Freud Moses And Monotheism p 162

को स्वीकार किया है। धर्म एक व्यापक भ्रम है, पर भ्रम सभ्यता के विकास में योग देता है। धर्म जन शिक्षा और समाज की प्रगति का एक महत्वपूर्ण साधन रहा है। मनुष्य की आक्रमण प्रवृत्ति को निरुद्ध कर उसके नैतिक विकास में धर्म ने सहायता की है। ईश्वर को धर्मशास्त्र का कर्ता और नैतिकता का स्रोत मानने से मनुष्य की नैतिकता का विकास हुआ है। काम प्रवृत्ति का उन्नयन कर विमुक्त ऊर्जा को सांस्कृतिक विकास के कार्यों में लगाने का कार्य धर्म ने किया है।

पर फ्रायड आधुनिक सभ्यता के विकास में धर्म को बाधा मानते हैं। उनका कथन है कि बाध्यता-स्नायुरोगी जैसे आत्मज्ञान के द्वारा रोगमुक्त हो जाता है वैसे ही समाज इस व्यापक बाध्यता-स्नायुरोग से विज्ञान विकास के द्वारा मुक्त हो जाएगा। अतः धर्म का ह्रास अटल है। वह एक शैशवीय विभ्रम है जो मनुष्य को यथार्थ से पलायन करने और काल्पनिक इच्छा-जगत् में सुख खोजने की प्रेरणा देता है। धर्म काम प्रवृत्ति को निरुद्ध कर बौद्धिक प्रगति को कुण्ठित कर देता है। धर्म की नैतिकता निषेधात्मक होती है। वह कठोर दमन की अपेक्षा रखती है। धर्म उभयात्मक है और इस कारण वह विश्व-एकता स्थापित करने में सहायक नहीं हो सकता। फ्रायड के मतानुसार केवल बुद्धि ही इस कार्य में योग दे सकती है।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि वात्स्यायन और फ्रायड के धर्मविषयक विचारों में बड़ा भारी अन्तर है। फ्रायड ने केवल सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से धर्म का मूल्यांकन किया है, वात्स्यायन लोकयात्रा की दृष्टि से तो धर्म का महत्व स्वीकार करते ही हैं, पर अलौकिक फल की प्राप्ति में भी धर्म का अक्षुण्ण महत्व मानते हैं। फ्रायड ने धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है, पर धार्मिक अनुभूति का विश्लेषण नहीं किया है। धर्म में त्याग का महत्व दोनों ने स्वीकार किया, पर जहाँ वात्स्यायन निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए त्याग आवश्यक मानते हैं, वहाँ फ्रायड समाजीकरण के लिए। धर्म की नैतिकता को वात्स्यायन ने केवल निषेधात्मक ही नहीं माना, बल्कि रचनात्मक भी माना है। वात्स्यायन धर्म को जीवनव्यापी तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं फ्रायड उसे एक व्यापक भ्रम और मनस्तरण के रूप में। फ्रायड धर्म को विकृति मानते हैं, वात्स्यायन प्रकृति। फ्रायड के मतानुसार धर्म स्थानापन्न सन्तुष्टि है वात्स्यायन के मतानुसार वह मोक्षफलदायी है।

वात्स्यायन ने काम को धर्मार्थ का फलभूत मानकर और फ्रायड ने धर्म को

---

1 Dr Y Masih Freudianism And Religion p 235

२ Freud New Introductory Lectures on psychoanalysis, p 219

उन्पिस ग्रन्थि से उद्भूत मानकर धर्म और काम में अटूट सम्बन्ध स्थापित किया है। फ्रायडीय मनोविश्लेषण के अनुसार भक्ति काम की व्युत्पत्ति है, काम का उदात्तीकृत रूप है। पर कतिपय विद्वान भक्ति को एक ऐसा रूपान्तर मानते हैं जिसमें जीवन की समस्त मर्यादाएँ और बुराइयाँ तिरोहित हो जाती हैं। उनका कथन है कि भक्ति एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति है जिसके प्रभाव से काम भाव निराकृत हो जाता है।[1] पर उदात्तीकरण और रूपान्तर की सीमाएँ धूमिल हैं, उनमें सुनिश्चित विभाजक रेखा खींचना असम्भव है। उदात्तीकरण में काम प्रवृत्ति अपने मूल लक्ष्य को त्याग देती है और किसी नये सांस्कृतिक अथवा नैतिक लक्ष्य की दिशा में प्रवाहित हो जाती है, फिर भी उसका नया लक्ष्य मूल लक्ष्य से सम्बद्ध रहता है।[2] रूपान्तर की प्रक्रिया में भी जीवन शक्ति का धर्म भाव में मोड़ दिया जाना स्वीकृत किया गया है।[3] रूपान्तर और उदात्तीकरण में केवल इतना ही अन्तर लक्षित होता है कि जहाँ रूपान्तर में समस्त मूलप्रवृत्तियों का उन्नयन होता है वहाँ फ्रायडीय विचारधारा में उदात्तीकरण केवल काम प्रवृत्ति का माना गया है। काम की ऊर्जा को रतिसुख से भिन्न और सामाजिक दृष्टि से हितकारी लक्ष्य में मोड़ देना ही

---

१ डा० प्र० न० जोशी मराठी साहित्यातील मधुराभक्ति, पृ० २०४

to be converted to be regenerated to receive grace to experience religion to gain an assurance are so many phrases which denote the process gradual or sudden, by which the self hitherto divided and consciously inferior and unhappy becomes unified and consciously right superior and happy in consequences of its firmer hold upon religious realities '

—William James Varieties of Religious Experience p 186

Also Oswald Schwarz The Psychology of Sex 1951 p 24

2 The energy of the instinctual sexual libido is turned aside from its sexual goal and diverted towards other ends no longer sexual though pscyhically related and socially more valuable "

—Freud Introductory Lectures p 17 p 290

3 The explanation of the mystical conversion which I would suggest is that it is the redirection of the whole libido ' into the religious sentiment We may express this in other words by saying that it is the religious sublimation of the entire instinctive nature '

—Thouless An Introduction To The Psychology of Religion p 213

उदात्तीकरण है।[1] अगर फ्रायड की 'जिजीविषा' अथवा 'इरास' की कल्पना को हम स्वीकार कर लें तो उदात्तीकरण और रूपान्तर में कोई भेद प्रतीत नहीं होगा। प्राय 'रूपान्तर' शब्द का प्रयोग अपरोक्षानुभूति के सम्बन्ध में किया जाता है और 'उदात्तीकरण' का धर्म, कला नीति साहित्य आदि के सम्बन्ध में। पर तत्वत इन शब्दों द्वारा संकेतित मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में प्रकार भेद नहीं होता।

समस्त भक्ति-साहित्य में काम भाव की अभिव्यंजना निस्संकोच भाव से की गई है। इसे आचार्यों ने शृंगार भक्ति या मधुरा भक्ति कहा है। पर यह स्पष्ट है कि भक्ति साहित्य में अभिव्यक्त काम केवल व्यंजनात्मक या प्रतीकात्मक स्तर का नहीं है। भक्ति और काम का सम्बन्ध केवल उपमेयोपमान-सम्बन्ध नहीं है, वह उससे सूक्ष्मतर है। अत भक्ति को काम प्रवृत्ति का उदात्तीकरण मानने में संकोच नहीं होना चाहिए। भक्तों की रचनाओं में यह उदात्तीकरण भी आंशिक रूप में ही हुआ जान पड़ता है, पूर्ण रूप में नहीं। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए फ्रायड ने कहा है कि नमनीय और चलनशील काम प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से उदात्तीकरण करने की क्षमता कई लोगों में नहीं होती।[2]

फ्रायड का धर्मविषयक सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है। वे धर्म के विकास की व्याख्या यौनजीय काम विकास के आधार पर करते हैं और जनक ग्रन्थि पर अतिरिक्त बल देते हैं। अत इस परिप्रेक्ष्य में उन धर्म-सम्प्रदायों की व्याख्या नहीं हो सकती जो ईश्वर को माता मानते हैं। उसी प्रकार बौद्ध धर्म जैन धर्म तथा सन्तों की निर्गुणोपासना पर भी फ्रायड का सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता। फ्रायड स्नायुरोगियों की मनश्चिकित्सा के आधार पर धर्म का विश्लेषण करते हैं, धार्मिक अनुभूतियों के आधार पर नहीं। अत उनका सिद्धान्त धर्म की दार्शनिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता।

समाज और सभ्यता

वात्स्यायन केवल कामशास्त्र ही के ज्ञाता नहीं थे, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन और समाज विज्ञान में भी उनकी गहरी पैठ थी। अत उनके कामसूत्र में समाज विज्ञान से सम्बद्ध विचारों की अभिव्यक्ति स्थान स्थान पर हुई है। काम मूलत सामाजिक भाव

---

1 E Jones Papers on Psychoanalysis 4th Edition p 621

2 'The plasticity and free mobility of the libido *is not by any* means retained to the full in all of us and sublimation can never discharge more than a certain proportion of libido apart from the fact that many people possess the capacity for sublimation only in a slight degree '

—Freud quoted by Havelock Ellis in 'The Psychology of Sex , p 264

इडिपस ग्रन्थि से उद्भूत मानकर धम और काम म अटूट सम्बन्ध स्थापित किया है। फायडीय मनोविश्लेषण के अनुसार भक्ति काम की व्युत्पत्ति है, काम का उदात्तीकृत रूप है। पर कतिपय विद्वान भक्ति को एक ऐसा रूपान्तर मानते ह जिसमें जीवन की समस्त मर्यादाएँ और बुराइयाँ तिरोहित हो जाती है। उनका कथन है कि भक्ति एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति है जिसके प्रभाव से काम भाव निराकृत हो जाता है।[1] पर उदात्तीकरण और रूपान्तर की सीमाए भ्रमित है, उनम सुनिश्चित विभाजक रेखा खींचना असम्भव है। उदात्तीकरण म काम प्रवृत्ति अपने मूल लक्ष्य को त्याग देती है और किसी नये सास्कृतिक अथवा नैतिक लक्ष्य की दिशा म प्रवाहित हो जाती है, फिर भी उसका नया लक्ष्य मूल लक्ष्य स सम्बद्ध रहता है। रूपान्तर की प्रक्रिया में भी जीवन शक्ति का धम भाव में मोड़ दिया जाना स्वीकृत किया गया है।[2] रूपान्तर और उदात्तीकरण में केवल इतना ही अन्तर लक्षित होता है कि जहाँ रूपान्तर में समस्त मूलप्रवृत्तियो का उन्नयन होता है वहाँ फायडीय विचारधारा में उदात्तीकरण केवल काम प्रवृत्ति का माना गया है। काम की ऊर्जा को रतिसुख स भिन्न और सामाजिक दृष्टि स हितकारी लक्ष्य म मोड़ देना ही

---

१ डा० प्र० न० जोशी मराठी साहित्यातील मधुराभक्ति पृ० २०४

to be converted, to be regenerated to receive grace to experience religion, to gain an assurance are so many phrases which denote the process gradual or sudden by which the self hitherto divided and consciously inferior and unhappy becomes unified and consciously right superior and happy in consequences of its firmer hold upon religious realities '

—William James Varieties of Religious Experience p 186

Also, Oswald Schwarz The Psychology of Sex 1951 p 24

2 The energy of the instinctual sexual libido is turned aside from its sexual goal and diverted towards other ends no longer sexual though pscyhically related and socially more valuable '

—Freud Introductory Lectures p 17 p 290

3 'The explanation of the mystical conversion which I would suggest is that it is the redirection of the whole libido' into the religious sentiment We may express this in other words by saying that it is the religious sublimation of the entire instinctive nature'

—Thouless An Introduction To The Psychology of Religion p 213

उदात्तीकरण है।[1] अगर फ्रायड की 'जिजीविषा' अथवा 'इरास' की सकल्पना को हम स्वीकार करें तो उदात्तीकरण और रूपान्तर में कोई भेद प्रतीत नही होगा। प्राय 'रूपान्तर' शब्द का प्रयोग अपरोक्षानुभूति के सम्बन्ध में किया जाता है और 'उदात्तीकरण' का धम, कला, नीति साहित्य आदि के सम्बन्ध में। पर तत्वत इन शब्दो द्वारा सकेतित मनो वैज्ञानिक प्रक्रियाओं में प्रकार भेद नही होता।

समस्त भक्ति-साहित्य में काम भाव की अभिव्यजना निस्सकोच भाव से की गई है। इसे आचार्यों ने शृ गार भक्ति या मधुरा भक्ति कहा है। पर यह स्पष्ट है कि भक्ति-साहित्य में अभिव्यक्त काम केवल रूपकात्मक या प्रतीकात्मक स्तर का नही है। भक्ति और काम का सम्बन्ध केवल उपमेयोपमान-सम्बन्ध नहीं है, वह उससे सूक्ष्मतर है। अत भक्ति को काम प्रवृत्ति का उदात्तीकरण मानने में सकोच नही होना चाहिए। भक्तो की रचनाओ में यह उदात्तीकरण भी आशिक रूप म ही हुआ जान पडता है, पूर्ण रूप में नही। इस तथ्य की ओर सकेत करते हुए फ्रायड ने कहा है कि नमनीय और क्षणभगुर काम प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से उदात्तीकरण करने की क्षमता कई लोगो म नही होती।[2]

फ्रायड का धर्मविषयक सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है। वे धम के विकास की व्याख्या शैशवीय काम विकास के आधार पर करते है और जनक ग्रथि पर अतिरिक्त बल देते है। अत इस परिप्रेक्ष्य में उन धर्म-सम्प्रदायो की व्याख्या नही हो सकती जो ईश्वर को माता मानते हैं। उसी प्रकार बौद्ध धम, जैन धम तथा सन्तो की निर्गुणोपासना पर भी फ्रायड का सिद्धान्त चरितार्थ नही होता। फ्रायड स्नायुरोगिया की मनश्चिकित्सा के आधार पर धम का विश्लेषण करते हैं, धार्मिक अनुभूतियों के आधार पर नही। अत उनका सिद्धान्त धम की दार्शनिक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत नही कर सकता।

समाज और सभ्यता

वात्स्यायन केवल कामशास्त्र ही के ज्ञाता नही थे, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन और समाज विज्ञान मे भी उनकी गहरी पैठ थी। अत उनके कामसूत्र म समाज विज्ञान स सबद्ध विचारो की अभिव्यक्ति स्थान स्थान पर हुई है। काम मूलत सामाजिक भाव

1 E Jones Papers on Psychoanalysis 4th Edition p 621

2 The plasticity and free mobility of the libido is not by any means retained to the full in all of us and sublimation can never discharge more than a certain proportion of libido apart from the fact that many people possess the capacity for sublimation only in a slight degree'

—Freud qoated by Havelock Ellis in ' The Psychology of Sex , p 264

है क्योंकि बिना दो व्यक्तियों के संयोग के उसकी परितुष्टि सम्भव नहीं। दम्पति समाज का लघु रूप है जो परिवार में वृद्धि पाकर वृहत्तर समाज में परिणत होता है। इस तथ्य का पूरा ध्यान रखकर वात्स्यायन कामालम्बन का वरण, स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्ध और उनके दायित्व, व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों की सन्तुष्टि और उनका बाह्य आदर्शों से अनुकूलन पुरुषार्थ, वर्णाश्रम आदि का विवेचन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने समाज विषयक विचारों को प्रतिपादित करते हैं।

फ्रायड भी सभ्यता की समस्याओं के प्रति सजग थे। वे ऐसे डॉक्टर थे जिन्होंने अपनी मनश्चिकित्सा प्रणाली के द्वारा केवल व्यक्ति ही की नहीं अपितु समाज की भी विकृतियों का विश्लेषण किया। सभ्यता के इतिहास का विवेचन उन्होंने वैयक्तिक चिकित्सा की सहायता से किया। स्नायुरोगियों की चिकित्सा के द्वारा वे इस तथ्य पर पहुँचे कि स्नायुरोग शैशवीय लक्ष्यनिबन्धन और प्रतीपायन का ही रूप हैं। उसी प्रकार समाज भी आदिम अवस्था की ओर प्रत्यावर्तित होता रहता है। फ्रायड ने नृतत्त्वशास्त्र तथा मनोविश्लेषण के आधार पर सभ्यता के उदय और विकास का चित्र अंकित किया।

वात्स्यायन ने फ्रायड के समान सभ्यता के मूलस्रोत की विवेचना नहीं की। उन्होंने समाज की स्थिति पर ध्यान केंद्रित कर पुरुषार्थों का महत्त्व स्थापित किया। समाज की स्वस्थ और सन्तुलित धारणा के लिए उन्होंने त्रिवर्ग का उचित सेवन आवश्यक माना। उनके अनुसार आध्यात्मिक उन्नति के लिए धर्मानुष्ठान, सामाजिक सुख के लिए अर्थार्जन और वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए कामाचरण अनिवार्य है। वर्णाश्रम के अनुकूल आचरण करने का उनका परामर्श इसी ओर संकेत करता है।

वात्स्यायन ने कामसूत्र में जिस समाज का चित्र अंकित किया है, वह फ्रायड द्वारा वर्णित उच्चवर्गीय सम्भ्रान्त समाज है। ऐसे समाज में सभ्यता का विकास मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों, और विशेष रूप से आत्मरक्षेच्छा एवं कामेच्छा के दमन का इतिहास है। इस वर्ग के लोगों में अन्तर्विवेक प्रबलतम रूप धारण करता है। उच्चवर्गीय विवेकशील होता है निम्नवर्गीय संवेगशील। विकसित अन्तर्विवेक के कारण दमन का आतंक उच्चवर्ग पर अधिक छाया रहता है और फलतः इस वर्ग के लोग स्नायुरोगग्रस्त हो जाते हैं। पर वात्स्यायन द्वारा चित्रित समाज में मूल प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि के प्रभूत अवसर उपलब्ध थे अतः उसमें विकृतियाँ कम मात्रा में पायी जाती है। उस समाज की विशेषताएँ गृह निर्माण, आमोद प्रमोद, विवाह पद्धति, गार्हस्थ्य आदि में प्रतिबिम्बित है।

फ्रायड ने व्यक्ति विकास और जाति विकास के समरूपता का विवेचन किया है। समाज विकास की क्रमशः तीन दशाएँ होती हैं—१ सर्वचेतनभावुक, २ धार्मिक, और ३ वैज्ञानिक। सर्वचेतनभाव का समरूप है स्वयंरति, धार्मिक अवस्था का समरूप व्यक्ति-विकास की वह अवस्था है जिसमें शिशु वस्तु-वरण कर माता पिता में आसक्त हो जाता है और वैज्ञानिक दशा का समरूप है परिपक्वावस्था जिसमें सुखतत्त्व को त्यागकर व्यक्ति

यथार्थ-तत्त्व को स्वीकार करता है।[1] सभ्यता के विकास में व्यक्ति को अपनी मूलप्रवृत्तियों की बलि देनी पड़ती है। इस कारण फ्रायड निराशावादी थे और उनके मन में यह आशंका थी कि सभ्यता की उत्क्रान्ति मानवजाति को विनाश की ओर ले जा सकती है।[2] फ्रायड जिन कामप्रवृत्तियों के अतिरिक्त दमन से आशंकित थे, उन्ही की सन्तुलित अभिव्यक्ति की शिक्षा देना वात्स्यायन का प्रयोजन था, अतः वात्स्यायन के विचारों में निराशा के लिए कोई स्थान नहीं था।

फ्रायडीय विश्लेषण के अनुसार सभ्यता का विकास व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग पर निर्भर करता है। अतः सब सामाजिक सम्बन्धों को व उत्पीड़नशील मानते है।[3] सभ्यता का उदय ही तब हुआ जब मनुष्य ने अपनी प्रवृत्तियों को निरुद्ध कर अन्य उत्पादन कार्यों में लगाया। इस दृष्टि से औजारों का प्रयोग सम्भोग का स्थानापन्न है, अग्नि की प्राप्ति मूत्रेन्द्रिय रति के त्याग का परिणाम है और गृह गर्भाशय का प्रतिरूप है।[4] ये बातें मनगढ़न्त लग सकती है, पर उनके मूल में स्थित सिद्धान्त असत्य नहीं है। दमन और निग्रह तथा नियमन और उद्दीपन के बीच जो संघर्ष चलता है उसे केवल अहम् ही सुलझा सकता है। अभिव्यक्तिशील आवेगों और अन्तःक्षेपित निरोधों में समझौता होने पर ही समस्या का समाधान हो सकता है। इस प्रकार फ्रायड के मतानुसार सभ्यता के विकास के लिए दमन अनिवार्य है। कामसूत्रकार ने भी अगम्यागमन और कामप्रवृत्ति की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति को निषिद्ध माना है। सगोत्र विवाह के निषेधस्रोत को फ्रायड ने गणचिह्नवाद के आधार पर स्पष्ट किया है। सवर्णा किन्तु असपिण्डा कन्या के साथ विवाह करने की प्रथा इसी का परिष्कृत रूप है।

आधुनिक समाज में कठोर दमन और नैतिकता से जो भयावह विकृतियाँ पैदा होती है, फ्रायड उनसे भली भाँति परिचित थे। इस निमम नैतिकता का पालन स्त्रियों को ही अधिक करना पड़ता है, पर पुरुष की अनैतिकता कम निन्दनीय मानी जाती है। फ्रायड का कथन है कि नीति की ऐसी दो संहिताएं जिस समाज मे स्वीकृत हुई है, उसमें सत्य प्रेम ईमानदारी, और मानवता का विकास असम्भव है। ऐसे समाज में स्त्री-पुरुष आत्म वंचना और परवंचना से प्रेरित होते हैं। ये सांस्कृतिक संहिताएँ दुःख का स्रोत बन जाती हैं। फलतः मनुष्य का मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। वह अन्तर्बाह्य अक्षम और दुर्बल बन जाता है। ऐसी संस्कृति में पुरुष मानसिक स्तर पर नपुंसक होता है और स्त्री रागाभाव से आपन्न। आधुनिक समाज में एक विवाह को महिमामण्डित

1 Freud Totem And Taboo p 90
2 Freud Moses And Monotheism p 186
३ फिलिप रीफ फ्रायड, द माइण्ड आव द मोरालिस्ट, पृ० १६७
४ फ्रायड सिविलिजेशन एण्ड इट्स् डिसकन्टेन्टस, पृ० ४१ ४२

किया गया है, फ्रायड का मत है कि यह पुरुष की कामालम्बन-वरण शक्ति को पगु बना देता है। एक पुरुष के अनेको स्त्रियों के साथ विवाह करने का भी बुरा ही परिणाम निकलता है। अत पुरिकाओ के समान ये अतृप्त विवाहित स्त्रियाँ कामाचरण के लिए प्रवृत्त हो सकती है।[१]

वात्स्यायन ने परदारा और वेश्या को भी नायिकाओ म गिनाया है। परस्त्री गमन और वेश्यागमन के मनोवैज्ञानिक कारणो को उन्होने स्पष्ट नही किया। फ्रायड ने इन प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर कतिपय तथ्यों का उद्घाटन किया है। उनके विश्लेषण के अनुसार तारगिकता की मांगो और यथाथ की अपरिहायता में स्थापित समझौते के ये फल है। *व्यतिक्रान्त पुरुष ऐसी स्त्री को कामालम्बन बनाना चाहता है जो दूसरे की हो।* तृतीय व्यक्ति को क्षति पहुँचाने की इच्छा इसके मूल में निहित है। वात्स्यायन ने गोणिकापुत्रकथित जिन परस्त्री-गमन कारणो का उल्लेख किया है उनका केन्द्रवर्ती भाव यही है।[३] कतिपय पुरुष सदाचारा और समादरणीय स्त्री के प्रति आकर्षित नही होते। वे ऐसी स्त्री की कामना करत हैं जिसकी एकनिष्ठता सन्देहास्पद हो। स्वैरिणी के प्रति इस आकषण को फ्रायड ने वेश्या रति कहा है। जब तक ईर्ष्या भाव उसके मन में पैदा नही होता तब तक उसका काम भाव उद्दीपित नही हो सकता। उसकी ईर्ष्या उस स्त्री क प्रेमियो के प्रति होती है। वह प्रेम के त्रिकोण को सदा बनाये रखना चाहता है।[४]

---

१ कामसूत्र, ५ ६ १४८

2 It may be termed the ' need for an injured third party its effect is that the person in question never chooses as an object of love a woman who is unattached *that is a girl or an independ ent woman but only one in regard to whom another man has* some right of possession whether as husband betrothed or near friend '

—Freud A Special Type of Choice of object Made by Man C P IV p 193

३ कामसूत्र, १ ५ ११, १२, १६, १७, २०

4 The second condition is thus constituted a virtuous and reputable woman never possesses the charm required to exalt her to an object of love this attraction is exercised by one who is more or less sexually discredited whose fidelity and loyalty admit of some doubt By a rough characterization this cond ition could be called that of ' love for a harlot "

—Freud Collected Papers IV p 194

वात्स्यायन के वैदिक अधिकरण म इसके उदाहरण प्राप्य हैं।[1] कभी कभी मनुष्य के यान उद्देश्य में विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा पुरुष आदरभाजन स्त्री के साथ समुचित रति नहा कर सकता। वह निम्न स्तर की स्त्री की ओर आकृष्ट हो जाता है। उसका पौरुष ऐसी स्त्री के साथ रति करने पर ही जाग्रत होता है।[2] इस प्रकार के रतो को वात्स्यायन ने पोटारत और खलरत कहा है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वात्स्यायन और फ्रायड दोनो ने काम प्रवृत्ति पर ध्यान केन्द्रित कर समाज स्थिति, सभ्यता के आदर्श, सामान्य और असामान्य व्यापार आदि की विवेचना की है। पर जहाँ वात्स्यायन के विश्लेषण का मूलाधार धर्मशास्त्र है, वहाँ फ्रायड के विश्लेषण का मनश्चिकित्सा। फ्रायड ने ईडिपस ग्रंथि, पराहम्, पाप भाव, आत्मग्लानि, अन्त सघर्ष और दमन जैसे मनोवैज्ञानिक तत्त्वो को सभ्यता के विवेचन में व्यवहृत किया है। सभ्यता, धर्म आदि की व्याख्या सामूहिक मनोविकृति विज्ञान के आधार पर उन्होने की है। अत दोनो के सिद्धान्त समाज की गतिविधियो को समझने में हमारी सहायता करते हैं। फ्रायडीय सिद्धान्तों में त्रुटियाँ अवश्य हैं, पर वे मनुष्य के अज्ञात और अबोध्य स्तर की प्रवृत्तियो का सम्यक उद्घाटन करते हैं। वात्स्यायन ने ऐसे सूक्ष्म भावो का विश्लेषण नहा किया, फिर भी उनके बाह्य एवं दृश्य परिणामों का समाजशास्त्रीय विवेचन उन्होंने किया है जो महत्त्वपूर्ण है।

निष्कर्ष

जिस प्रकार कामसूत्र का उद्देश्य स्वच्छन्द कामाचरण या स्वैराचार का प्रचार नही है उसी प्रकार फ्रायड के काम विवेचन का प्रयोजन अनैतिकता को प्रोत्साहित करना नही है। दोनो का लक्ष्य समाज में नैतिकता को प्रतिष्ठापित करना है। पर वात्स्यायन द्वारा प्रतिपादित नैतिकता धर्माधिष्ठित और वर्णाश्रमानुकूल है, फ्रायड द्वारा

---

१ यत्र परस्पराभिगमनेऽथ सकृदस्त सघपत स उभयतोऽथ

—कामसूत्र, ६ ६ ३२

उसी प्रकार द्रष्टव्य ६ ६ ४०, ४७

2 ' The man almost always feels his sexual activity hampered by his respect for the woman and only develops *full* sexual potency when he finds himself in the pres-nce of a lower type of sexual object '

—Freud "The Most Prevalent Form of Degradation in Erotic Life," in Collected Papers Vol IV, p 210

३ पूनाया कुम्भदास्या परिचारिकाया वा यावदथ सम्प्रयोगस्तत्पोटारतम्।

—कामसूत्र, २ १० २२

प्रतिपादित नैतिकता विवेकाधिष्ठित और विधानानुकूल। फ्रायड चाहते थे कि मनश्चिकित्सा धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था कि बने।[1] अतः मनश्चिकित्सा वास्तव में नैतिक शिक्षाशास्त्र है। संवेग और संस्कृति में संतुलन स्थापित करना दोनों का उद्देश्य है। फ्रायड व्यक्ति को समाज, राजनीति और धर्म से मुक्त करना चाहते थे इसलिए कि उसमें विवेकाधिष्ठित साम्यावस्था स्थापित हो जाये। ऐसा व्यक्ति न अपनी प्रवृत्तियों की माँगों से विचलित होगा, न सभ्यता या यथार्थ के दबाव से। आत्मनिग्रह ही उसका गन्तव्य होगा। इस प्रकार फ्रायड के संदेश में भारतीय आदर्श परोक्ष रूप से विद्यमान है।

वात्स्यायन और फ्रायड के सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर मध्यकाल के साहित्य की दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और शृंगारिक प्रवृत्तियों का यथार्थ उद्घाटन किया जा सकता है। हमने देखा है कि कामसूत्र और मनोविश्लेषण दोनों का केन्द्रवर्ती भाव है काम विवेचन, पर केवल काम-विवेचन नहीं। कामसूत्र और मनोविश्लेषण की परिधि में संस्कृति के सारे अंगों का सन्निवेश होता है। काम विवेचन इन शास्त्रों में इसलिए महत्वपूर्ण स्थान रखता है कि कला, धर्म और सभ्यता का उद्भव एवं विकास काम प्रवृत्तियों के योगदान से ही सम्भव हुआ है।[2] इसलिए इनके सिद्धान्तों के सन्दर्भ में साहित्य का परिशीलन करने पर कुछ नये तथ्य निःसृत हो सकते हैं।

---

1 Freud Post script to a Discussion of Psychoanalysis, in Collected Papers, Vol V p 20

2 Freud The Resistances to Psychoanalysis in Collected Papers V, p 169

चतुर्थ अध्याय

वात्स्यायन, फ्रायड और साहित्य

साहित्य म साहित्यकार क व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति प्रकट या प्रच्छन्न रूप में समाज क परिपार्श्व म होती है। ग्रत साहित्य-सृजन की प्रक्रिया के विश्लेषण मे व्यष्टि पक्ष तथा समष्टि-पक्ष दोनो की विवेचना अपेक्षित है। साहित्य के व्यक्तिनिष्ठ तथा सस्कृतिनिष्ठ मूलाधारों और मूलस्रोतो की छानबीन करने पर उसकी अन्तर्वस्तु का उद्घाटन सम्यक रीति से हो सकता है। साहित्य के इन दोनो पक्षो की व्याख्या म वात्स्यायन और फ्रायड के सिद्धान्तो की उपादेयता सदेहातीत है। साहित्य-सृजन अथवा साहित्य-मूल्याकन वात्स्यायन का प्रयोजन नही है। वात्स्यायन कामशास्त्रकार है, साहित्य शास्त्री नहा। फिर भी सस्कृत तथा हिंदी साहित्य क निर्माण और मूल्याकन पर वात्स्यायनीय कामसूत्र की अमिट छाप है। फ्रायड ने कला, साहित्य आदि की प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया है और अपने सिद्धान्तों के आधार पर उनकी विवेचना भी की है। यद्यपि उनको सौन्दर्यशास्त्र से सम्बद्ध कला स्वरूप की विवेचना, उनकी भौतिक विचारधारा की परिचायक है, फिर भी उनके मनोविश्लेपण सिद्धान्त ही साहित्य की विवेचना में अधिक सहायक हैं। मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के अनुशीलन में स्वीकरणीय तत्त्वो को निर्धारित करने में वात्स्यायन और फ्रायड की रचनाओ में प्राप्त सामग्री का विवेचन उपादेय होगा।

वात्स्यायन की कला परिगणना

वात्स्यायन ने कामागभूत चतुःषष्टि कलाओ की परिगणना में गीत-नृत्यादि ललित कलाओ क साथ पुष्पास्तरण, भूषणयोजन जैसी प्रसाधनकलाओ और प्रहेलिका, प्रतिमाला, पुस्तकवाचन, नाटकाख्यायिकादर्शन, काव्यसमस्यापूरण काव्यक्रिया जसा साहित्य से सम्बन्धित कलाओ का भी उल्लेख किया है।[1] इस कला-परिगणना से हम दो निष्कर्षों पर पहुँचते हैं १ ये कामशास्त्र की अवयविनी कलाएँ ह, अत कामाकर्षण, प्रियाराधन, और प्रेम प्राप्ति की सफलता इन कलाओ म सम्पादित कौशल पर निभर है। इससे स्पष्ट है कि वात्स्यायन की कामविषयक सकल्पना बहुत व्यापक है और समस्त जीवन की सुखसंवेदनाओ को समाहित करने की प्रवृत्ति उसम है। २ वात्स्यायन साहित्य को भी

---

१ कामसूत्र, १ ३ १८

कला मानते हैं, जो कामशास्त्र की अगविद्या है। कामसूत्र अग है और विभिन्न कलाएँ उसके अग है, फलत कामसूत्र और उसके प्रतिपाद्य काम का महत्व स्वत सिद्ध है। वात्स्यायन की इस कला सूची म योरोपाय कला-वर्गीकरण में अन्तभुक्त प्राय सब ललित कलाओ, आचार कलाओ और उदार कलाओ का सनिवेश है। वात्स्यायन का कथन है कि देश काल की विशेष प्रवृत्तियो को देखकर इनका प्रयोग करने वाले को सौभाग्य की प्राप्ति होती है।[१]

कामसूत्र और रस सिद्धान्त

रससिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का मरुण्ड है। इसके समथक आचाय अभिनव गुप्त ने रस को काव्य का आत्म तत्त्व घोषित कर वस्तु, अलकार और ध्वनि की रसपय वसान में ही सार्थकता मानी है।[२] राजशेखर ने भी 'रसवत एव निब धो युक्तो न नीर सस्य' कह कर रस की काव्य में एकच्छत्र सत्ता स्वीकार को है। रस तन्मयत्व स जनित निर्विघ्न आनन्दप्रतीति है। यह आनन्द ब्रह्मास्वादसहोदर आनन्द—हा काव्य का सवलमौलिभूत प्रयोजन है। रस केवल नाटय या काव्य का ही नही अपितु समस्त ललित कलाओ का सावभौम तत्त्व है। आधुनिक कविता के सन्दभ म रस सिद्धान्त की सीमाओ एव त्रुटियो को विश्लेषित करने वाले नये आलोचक 'बुद्धि रस या 'नाग रस' की सकल्पना के द्वारा रस के ही एकच्छत्र अधिकार को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने रस सिद्धान्त पर किये गये समस्त आक्षेपो का प्रत्याख्यान कर उसे साव जनीन और सावकालीन साहित्य क मूल्याकन का सावभौम मानण्ड माना है।[३]

डॉ० नगेन्द्र का तक है कि रामायण-महाभारत जस धम और नीति को सार तत्त्व मानकर लिखे गये ग्रन्थो का मूलाधार धमशास्त्र था और तदितर ललित साहित्य का कामशास्त्र। चूंकि रस का मूलस्रोत यह शृ गाराधिष्ठित ललित्य साहित था, 'आरम्भ म रस से प्राय शृगार का ही अभिप्राय था। पर बाद म जब रस सम्प्रदाय का विकास हुआ, अन्य रसों को भी रस-स्थापना म समेट लिया गया और भारतीय दशन के प्रभाव के कारण रस आनन्दस्वरूप बन गया।[४] डा० नगेन्द्र क इस नये अनुसन्धान से दो नये तथ्य प्राप्त होते है

---

१ कलाना ग्रहणादेव सौभाग्यमुपजायते। देशकालौ त्वपेक्ष्यासा प्रयोग सम्भवन वा॥
—कामसूत्र, १ ३ २२

२ तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलकारध्वनी तु सवदा रस प्रति पयवस्येते।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ८५

३ डा० नगेन्द्र रस सिद्धान्त, पृ० ३६३

४ डॉ० नगेन्द्र रस सिद्धान्त, पृ० १४ १५

१ 'सम्भवत कामसूत्र नाट्य-साहित्य और नाट्यशास्त्र का प्रमुख आधार रहा है।'

२ रस के शास्त्रीय अथ का विकास कामसूत्र के प्रभाव के फलस्वरूप नाट्य शास्त्रप्रणयन के पूर्व ही हुआ होगा।[1]

अथर्ववेद के कामपरक मन्त्रों से भरतोक्त 'रसाश्च अथर्वणादपि' की यथार्थता सिद्ध हो जाती है। पर अथर्ववेद और नाट्यशास्त्र के बीच की कड़ी है कामसूत्र। अत अथर्व वेद में आविर्भूत रस-मकल्पना कामसूत्र से पुष्ट होकर नाट्यशास्त्र में विकसित हुई। यद्यपि अभिनवगुप्तादि परवर्ती रसाचार्यों ने भरत प्रणीत रस सिद्धान्त को अपने आनन्द वादी दर्शन के अनुकूल परिवर्धित किया, भरत की मूल धारणा अथर्ववेद, आयुर्वेद और कामसूत्र की रस-कल्पना के समान वस्तुवादी थी।[2] कामसूत्र के 'तदिष्टभावलीला नुवर्तनम्' सूत्र[3] से भी स्पष्ट हो जाता है कि भरत से पूर्व ही रस की शास्त्रीय परम्परा सुदृढ़ हो चुकी थी। यहाँ 'भाव' से तात्पर्य शृंगारादि के स्थायिसंचारिसात्त्विक भावों से है। इसमे डॉ० नगेन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि रस के 'नाट्यशास्त्रीय अथ के आवि र्भाव का समय कामसूत्र की रचना के आस-पास हो पहुँच जाता है।[4]

कामसूत्र में 'रस' 'रति' का पर्याय माना गया है।[5], स्त्री पुरुषहेतुक शृंगार की कामशास्त्रीय विवेचना करना ही वात्स्यायन का प्रयोजन है, भरत ने इसकी नाट्य शास्त्रीय व्याख्या की है। पर चूँकि भरतप्रणीत रस-सकल्पना का मूलाधार 'कामसूत्र' है कामसूत्रानुमोदित रस रति के आधार पर शृंगार ही को प्रधान रस को प्रतिष्ठा प्रदान की गयी। शृंगार को एकमात्र रस या रसराज के रूप में उपस्थापित करने की प्रवृत्ति का रहस्योद्घाटन कामसूत्रीय रस धारणा की व्याख्या से अनायास ही हो जाता है। इस 'शृंगार' की प्राय समस्त काव्यशास्त्रीय सामग्री प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कामसूत्र में प्राप्त होती है।[6] डा० नगेन्द्र के इस अभिमत का समर्थन कामसूत्र में प्राप्त प्रमाणों से हो जाता है।

---

१ डॉ० नगेन्द्र रस सिद्धान्त, पृ० ८६

२ डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, १९६२, पृ० ११२
डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे सौन्दर्यांच व्याकरण, पृ० ८७ १०८

३ कामसूत्र, ६ २ ५५

४ डा० नगेन्द्र रस सिद्धान्त, पृ० ८६

५ रसोरति प्रीतिर्भावो रागो वेग समाप्तिरिति रतिपर्याया।
—कामसूत्र, २ १ ३२

६ डा० नगेन्द्र रस सिद्धान्त, पृ० ११

'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'[1] में रस की महत्ता स्थापित कर रस निष्पत्ति की व्याख्या करते हुए भरत कहते है—'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'।[2] कामसूत्र में शृंगार के स्थायी भाव के अतिरिक्त इन तीनो का कामशास्त्रीय विवेचन मिलता है। शृंगार रस के शास्त्रीय उपस्थापन में यह कामसूत्रीय विवेचन निर्देशक तत्त्व रहा है। रस के उपर्युक्त तीनो उपकरणो को भाव कहा गया है। इनके सयोग से ही स्थायी भाव रसदशा की चरम कोटि को पहुँच जाता है। भरत के अनुसार 'भाव वागगसत्त्वोपेत काव्यार्थ का भावन कराते हैं। इससे स्पष्ट है कि भरत ने 'भाव' को लोकधर्मित्व से भिन्न और व्यापक माना है। पर नाट्यधर्मी भावो की मूलभित्ति लोकधर्मी भाव ही है, इसका प्रतिवाद नही किया जा सकता है। भरत ने नाट्य के लिए प्रयुक्त 'नानाभावोपसम्पन्नम्', नानावस्थान्तरात्मकम्, और 'लोकवृत्तानुकरणम्' विशेषणो के अर्थोपस्थापन से यह स्पष्ट हो जाता है।

शृंगार का स्थायिभाव

शृंगार का स्थायिभाव रति है, जो अभिलषित विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होती है। भरत ने इसे प्रमोदात्मिका कहा।[3] कामसूत्र के अनुसार 'रति' रत की चरमावस्था है जिसमे चित्तपरिस्पन्द और सुख के साथ रमण का भाव निहित है। वह रसनीय है, चित्तप्रणयोद्भव है। उसमे सुखानुग होता है, तृप्ति की पूर्णता होती है। वह काम भाव का चरम फल है। आचार्य भरत ने 'रति' को प्रमोदात्मिका और इष्टार्थ विषयप्राप्ति कहकर इसी ओर सकेत किया है। उन्होने शृंगार को स्त्री-पुरुष हेतुक और 'उत्तमयुवप्रकृति' कहा है।[4] अतः रति की वास्तविक स्थिति सवेदनशील युवक और युवती के सयोग में होती है। उत्तमप्रकृति कामिजन ही काम-सुख की विश्रान्ति अनुभव करते है।[5] इससे स्पष्ट होता है कि भरत की रति-सकल्पना पर कामसूत्रीय रति विचार का प्रभाव है।

शृंगार के विभाव

भरत ने विभाव को विज्ञान या कारण माना है क्योकि ये अभिनय के द्वारा

---

१ आचार्य विश्वेश्वर हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४१

२ वही, पृ० ४४२,

३ रतिर्नाम प्रमोदात्मिका । इष्टार्थविषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते।
—रघुवश भरत का नाट्यशास्त्र, भाग १ पृ० ४१७ ४१८

४ वही पृ० ३३८

५ रति क्रीडा सा च परमार्थत कामिनोरेव तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्ते ।
—आचार्य विश्वेश्वर हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५४०

स्थायी या व्यभिचारी भाव को ज्ञापित करते है।[1] उन्होंने ऋतु, माल्य, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजन, विषय तथा सुंदर भवन का उपभोग, उपवनगमन, अनुभवन, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा, तथा लीला आदि विभावों के द्वारा सम्भोग शृंगार की उत्पत्ति मानी है।[2] भरत ने विभाव भेदों का वहीं उल्लेख नहीं किया है। पर परवर्ती आचार्यों ने नायक-नायिका को परस्पर आलम्बन विभाव और स्थायी को उद्दीप्त करने वाले विभावों को उद्दीपन विभाव कहा है। उद्दीपन विभाव के भी दो भेद हैं। १ आलम्बनगत गुण, अलंकार, तथा चेष्टा, और २ आलम्बननिरपेक्ष्य ऋतु, भवन, चित्र, पशु पक्षियों की क्रियाएँ आदि।

वात्स्यायन ने स्त्री-पुरुष का सम्प्रयोगपराधीन कहकर रतिसुख की प्राप्ति के लिए उपायों की आवश्यकता प्रतिपादित की है। स्त्री पुरुष का कामायतन है और पुरुष स्त्री का। अतः वे परस्पर आलम्बन हैं। इस प्रकार कामशास्त्र का कामायतन ही काव्यशास्त्र में आलम्बन विभाव के रूप में प्रतिष्ठित है। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने स्त्री के मान्यादि को कामाग कहा है। यही रतिशास्त्रीय कामाग रसशास्त्र में उद्दीपन विभाव माना गया है। कामसूत्र में शृंगार के विभिन्न विभावों का सविस्तार वर्णन मिलता है जो काव्यशास्त्रीय विभावों का मूलाधार है। संक्षेप में कामसूत्रीय विभावों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ आलम्बन विभाव—नायक, नायिका

२ उद्दीपन विभाव—

विषयगत (अ) गुण—नायिका में—रूपशीललक्षणसम्पन्ना, अरोगिप्रकृतिशरीरा, अन्यूनाधिकविनष्टनखदन्तकेशाक्षिस्तनी,[3] माधुर्ययोगिनी, विशेषाभिनी, अवदग्धवृत्ति, आतिथ्यावृत्ति आदि।

नायक में—कामसूत्रज्ञ, कथाख्यानकुशल, प्रवृद्धयौवन, उचित सम्भाषण, ममत्व, त्यागशील, साहसिक, शूर, विद्याशिल्पगुणोपेत, सवयस्क, कवि, प्रगल्भ, वृद्धदर्शी, स्थूललक्ष्य, दृढ़भक्ति, अनसूयक आदि।[4]

(आ) अलंकार—अनुलेपन, धूपग्रहण, माल्य, सिक्थक तथा अलक्तक

---

१ विभावो विज्ञानार्थ। विभाव कारण निमित्त हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्ते अनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः। —भरत का नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ४०६

२ वही, पृ० ३४१

३ कामसूत्र, ३ २ १

४ वही, ५ १ ५०, ६ १ १०

का प्रयोग, उत्क्षेप, प्रगायन, शृङ्गारीरसंस्कार[1] आदि।

(इ) चेष्टा—उद्यानगमन, जलक्रीड़ा, गोष्ठीविहार, आदि।[2]

आलम्बन निरपेक्ष—नागगृह प्रेंखादोला, संगीत, चन्द्ररात्रि, कौमुदी आगर, मुक्तातार, आदि उत्सव दूत-दूती आदि।[3]

शृंगार के अनुभाव

जिन वाचिक आंगिक या आहार्य चेष्टाओं के द्वारा वागंगसत्त्वभूत अभिनय का अनुभावन या सामाजिक पराया जाता है उन्हें अनुभाव कहते हैं।[4] भरत ने तीन अंगज, दस स्वभावज और सात अयत्नज सात्त्विक अलंकारों का विवरण दिया है जिन्हें आचार्यों ने अनुभावों की सूची में रखा है। भाव, हाव तथा हेला अंगज अलंकार हैं। रति तथा उत्तमता का वागादि का विशेषता द्वारा सूचित करने वाला विकार भाव कहलाता है। नेत्र, भ्रू, चिबुक आदि का विकार, जो शृंगारोचित आकार को सूचित करता है और उठ-उठकर विश्रान्त हो जाता है, हाव कहलाता है। हाव जब सतत रहता है तब उसे हेला कहते हैं।[5] स्वभावज अलंकारों में निम्नलिखित दस अनुभाव गिनाये जाते हैं।[6]

१ लीला—वाक्, अंग, आभूषण आदि के द्वारा प्रियतम की प्रेमाभ्यास अनुकृति।

२ विलास—प्रिय के दर्शनागमन के कारण स्थानासनादि तथा हस्तभ्रूनेत्रादि के व्यापारों का विशेषता।

३ विच्छित्ति—सौन्दर्य की परिवृद्धि करने वाला स्वल्प वेष रचना।

४ विभ्रम—मद, राग और हर्ष के कारण वाक् अंग, वेष आदि का व्यत्यास।

५ किलकिंचित—आनन्दातिरेक के कारण स्मित, रुदित, हसित, भय गर्व, दुःख, श्रम तथा अभिलाष का संकर।

६ मोट्टायित—प्रिय के दर्शन तथा कथन से तन्मयता के कारण गात्रमोटन।

---

१ कामसूत्र, १ ४ ५ ३ १ १४

२ वही, १ ४ ६ ११ २६ २८ ३ ३ ६ ७

३ वही, १ ४ ४, १०, २७, १ ५ ३२ ३६, ५ ४

४ अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्वकृतोऽभिनय इति।

—भरत का नाट्यशास्त्र भा० १, पृ० ४१०

५ नाट्यशास्त्र, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, भाग ३, पृ० १५४ १५७

६ वही, पृष्ठ १५८ १६२

७ कुट्टमित—प्रिय के द्वारा केश, कुच, अधर आदि के ग्रहण से आनन्दित होने पर भी मिथ्या दुःखोपचार।

८ बिब्बोक—इष्ट भावों की प्राप्ति होने पर भी गर्व के कारण उनका अनादर।

९ ललित—गात्रों का निष्प्रयोजन सुकुमार विन्यास।

१० विहृत—किसी व्याज या स्वभाव से प्रीतियुक्त वचन न बोलना।

अयत्नज अलंकारों के निम्नलिखित सात भेद हैं।[1]

१ शोभा—उपभोग के बाद रूप, यौवन और लावण्य से अंगों की उज्ज्वलता।

२ कान्ति—आपूर्णमन्मथा शोभा।

३ दीप्ति—कान्ति का विस्तार।

४ माधुर्य—सभी अवस्थाओं में चेष्टा की मसृणता।

५ धैर्य—रूपयौवनादि में आत्मश्लाघा तथा चपलता से रहित वृत्ति।

६ प्रागल्भ्य—सुरत में कौशल।

७ औदार्य—असूया, ईर्ष्या, क्रोध आदि अवस्थाओं में भी परुष वचन न बोलना।

इनके अतिरिक्त मौग्ध्य, तपन, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि आदि को भी अलंकारों की सूची में रखा गया है।[2] शारदातनय ने आलाप प्रलापादि द्वादश भिनयात्मक भाग को वागारम्भानुभाव कहा है।

कामिजनों के भावों का उद्घाटन करने वाली अनेकों चेष्टाओं का वर्णन काम सूत्र में मिलता है। काव्य नाट्य-शास्त्र के शृंगारानुकूल अनुभावों में इनका प्रकारान्तर से विवरण दिया गया है। पर इन सबका अन्तर्भाव रसशास्त्र में सम्भव नहीं है। इसी कारण विश्वनाथ ने अलंकारों के निरूपण के बाद मुग्धा, कन्या तथा अन्य नायिकाओं की प्रेम चेष्टाओं का निर्देश किया है। उन्होंने अंगज तथा अयत्नज अनुभाव पुरुषों में भी स्वीकार किये हैं।[3] भरत मुनि ने नयनचातुरी, भ्रूक्षेप, कटाक्षसंचार, ललित तथा मधुर अंगहार और वाक्य आदि अनुभावों के द्वारा सम्भोग शृंगार का अभिनय करने का परामर्श दिया है।[4] कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि आदि रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों ने चुम्बन, आलिंगन, नखक्षत, दन्तक्षत, प्रहरण तथा सीत्कार के समस्त भेदों को अनु

---

१ नाट्यशास्त्र, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, भाग ३, पृ० १६२ १६३

२ साहित्यदर्पण, चौखम्बा, ३ १०६ ११०

३ स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि।

—साहित्यदर्पण, चौखम्बा, १९५७, ३ ९२

४ तस्य नयनचातुरी भ्रूक्षेप कटाक्षसंचारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। आचार्य विश्वेश्वर हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५४६

भावो के रूप में स्वीकार किया है।[1] कामसूत्र म वर्णित ऐसी कतिपय चेष्टाओ के, जिन्हें आचार्यों ने अनुभावो के अ तगत रखा है, उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

वागारम्भानुभाव आगताना च मनोहरैरालापैरुपचारैश्च ससहायोपक्रम ।[2]

पूर्वप्रकरणसम्बद्धे परिहासानुरागैवचोभिरनुवृत्ति ।[3]

गूढाश्लीलाना च वस्तूना समस्यया परिभाषणम् ।[4]

तत्र सिद्धामालापयेत् ।[5]

उदभास्वरानुभाव रशनावियोजन नीवीस्र सन वसनपरिवतनमूरमूलसवाहन च ।[6]

ततो नीवीविश्लेषणादि यथोक्तमुपक्रमेत ।[7]

अगज समुख त तु न वीक्षते। रुच्यमारमनोऽङ्गमपदेशेन प्रकाशयति। प्रमत्त प्रच्छन्न नायकमतिक्रान्त च वीक्षते।[8]

पृष्टा च किंचित्सस्मितम व्यक्ताक्षरमनवसितार्थ च म द म दमधोमुखी कथयति।

दूरे स्थिता पश्यतु मामिति म यमाना परिजन सवक्त्रविकारमाभाषते।[9]

यत्किंचिदहृष्ट्वा विहसित करोति।[10]

स्वभावज सर्वा एव हि क या पुरुषेण प्रयुज्मान वचन विषहन्ते। न तु लघुमिश्रामपि वाच वदन्ति।[11]

नायक च विहस ती कदाचित्कटाक्ष प्रेक्षेत।[12]

अम्बार्था श दा वारणार्था मोक्षणार्थाश्चालमर्थाम्ने नै चार्थयोगात्।[13]

---

१ डा० सत्यदेव चौधरी हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचाय, १९५९, पृ० ३०२, ३२०

२ कामसूत्र, १ ४ १२

३ वही, २ १० ३

४ वही

५ वही, ३ २ १३

६ वही, ३ २ २८

७ वही, २ १० ५

८ वही, ३ ३ २६

९ वही, ३ ३ २७

१० वही, ३ ३ ३८

११ वही, ३ २ १७

१२ वही, ३ २ २०

१३ वही, २ ७ ७

विदूषयन्तीव मुख कुत्सयतीव नायकम् ।[1]
स्वगात्रस्थानि चिह्नानि सासूयेव प्रदर्शयेत् ।[1]

अवलग्न बिन्दो प्रतिक्रिया माला मालायादयाभ्रखण्डकम् ।
इति क्रोधादिवाविष्टा कलहा प्रतियोजयेत् ॥
सकचग्रहमुन्नम्य मुख तस्य तत पिबेत् ।
निलीयेत दशेच्चैव तत्र तत्र मदेरिता ॥
उन्नम्य कण्ठे कान्तस्य सश्रिता वक्षस स्थलीम् ।
मणिमाला प्रयुञ्जीत यच्चान्यदपि लक्षितम् ॥[2]
नायकापचारेषु किचित्कुपिता नातयर्थं निर्वदेत् ।[3]

सात्विक भाव

मन प्रभव सत्त्व से उत्पन्न स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग, वेपथु, वैवर्ण्य और प्रलय नामक आठ सात्विक भाव माने गये हैं ।[4] भरत मुनि ने मन की समाधि से सत्त्व की निष्पत्ति मानी है जिससे यह स्पष्ट होता है कि अन्यमनस्कता में इन भावो की उत्पत्ति नही हो सकती । यद्यपि ये अष्ट सात्विक भाव शरीर के विकार हैं, इनकी मूलभित्ति मानसिक है । कामसूत्र में जिन प्रसगो में इनके प्रति निर्देश किया गया है, उनकी विशेषता है मानसिक उत्कटता और एकाग्रता । बिना अवचेतन स्वप्न प्रेरणा के सात्विक भावो की निष्पत्ति असम्भव है । कामसूत्र में इनकी ओर सकेत करने वाले कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

स्तम्भ बलात्कारेण नियुक्त मुखे मुखमाधत्ते न तु विचेष्टते ।[5]
स्वेद हस्तौ विधुनोति स्विद्यति ।[6]
स्विन्नकरचरणागुलि स्विन्नमुखी च भवति ।[7]
वेपथु सवेपथुगद्गद वदति ।[8]
स्वरभग तत्र हिंकारादीनामनियमेनाभ्यासेन विकल्पेन च तत्कालमेव प्रयोग ।[9]

---

१ कामसूत्र, २ ५ ४२
२ वही, २ ५ ३८ ४०
३ वही, ४ १ १६
४ रघुवश भरत का नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ४९२
५ कामसूत्र, २ ३ ८
६ वही, २ ८ १८
७ वही, ५ ३ १६
८ वही, ५ ३ १६
९ वही २ ७ १३

अश्रु रतान्ते च श्वसितरुदिते ।[1]

तत्रोपविश्याश्रुकरणमिति ।[2]

प्रलय गात्राणा स्रसन नेत्रनिमीलन व्रीडानाश ।[3]

व्यभिचारी भाव

सचरणशील, स्थायिपोषक और रसानुकूल भावो को सचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं।[4] परम्परानुमोदन के पक्षपाती आचार्य भरतकथित तैंतीस सचारी भावों को स्वीकार करते है। कामसूत्र में इनके कई रूप प्राप्त होते ह जो नाट्यशास्त्रीय सचारियो के मूल रूप हैं।

शका ममशा वा मयि दृढमभिकामा सा मामनिच्छन्त दोषख्यापनेन दूषयिष्यति ।[5]

व्रीडा विस्मिता व्रीडा दर्शयति ।[6]

उन्माद दिवापि जनसबाधे नायकेन प्रदर्शितम्।

उद्दिश्य स्वकृत चिह्न हृमदयैरलक्षिता ।[7]

असूया व्रीडा, श्रम पातिता पातयामीति हसन्ती तजयन्ती प्रतिघ्नन्ती च ब्रयात्। पुनश्च व्रीडा दर्शयेत्। श्रम विरामाभिप्सा च ।[8]

चापल्य तत्र सुभृश कलहो रुन्तिमायास शिरोरुहणामवक्षोभन प्रहणनमासनाच्छयनाद्वा मह्या पतन माल्यभूषणावमोक्षो भूमौ शय्या च ।[9]

ग्लानि गात्राणा स्रसन ।[10]

श्रम तत्रान्तमुखेन कूजित फूत्कृत च ।[11]

रागवशात्प्रहणनाभ्यासे वारणमोक्षणालमर्थाना शब्दानामम्बार्थाना च

---

१ कामसूत्र, २ १० ३०

२ वही, २ ७ १६

३ वही, २ ८ १७

४ भरत का नाट्यशास्त्र भाग १, पृ० ४३२

५ कामसूत्र, १ ५ १३

६ वही, ३ ३ २६

७ वही, २ ५ ४१

८ वही, २ ८ ६

९ वही, २ १० २८

१० वही, २ ८ १७

११ वही, २ ७ १५

रत्नाऽङ्गवसितरुदितस्तनितमिश्रीकृतप्रयोगा विलाना च।[1]

स्मृति स्मरणमतीतानाम्।[2]

अमर्ष वधमानप्रणया तु नायिका सपत्नीनामग्रहण तदाश्रयमालाप वा गोत्रस्खलित वा न मषयेत्।[3]

अवहित्था पृष्टा च किंचित्सस्मितमव्यक्ताक्षरमनवसितार्थं मन्द मन्दमधोमुखी कथयति।[4]

शृंगार के भेद और कामसूत्र

शृगार के प्रमुख दो भेदो—सम्भोग तथा विप्रलम्भ—और धर्मार्थकामस्वरूप त्रिवर्गात्मक भेदो का मूलाधार कामसूत्र में मिल जाता है। नायक-नायिका के परस्परानुकूल दर्शन, स्पर्शन आदि व्यापारो में उनके द्वारा अनुभूत सुख या बहिरिन्द्रियसम्बन्धजन्य आनन्द को सम्भोग शृगार और परस्परानुरक्त होने पर भी पारतन्त्र्यादि के कारण वियोग तथा चित्तविश्लेष या इन्द्रियसम्बन्धाभाव को विप्रलम्भ शृगार कहते है।[5] सम्भोग शृगार के बहिरिन्द्रियस्वरूप का आधार कामसूत्र के सम्प्रयोगाधिकरण में निर्दिष्ट आलिंगन चुम्बन सवेशनादि में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसके चित्तवृत्तिरूप की भी मूलभित्ति 'अभियोक्ताहमिति पुरुषोऽनुरज्यते। अभियुक्ताहमनेनेति युवतिरिति वात्स्यायन' में प्राप्त होती है। रागोद्दीपन और मानसिक एकता के भाव कामसूत्र के सम्भोगवर्णन में ध्वनित हैं। प्रणय-कलह, मान तथा ईर्ष्याजन्य विप्रलम्भ का पूर्वरूप कामसूत्र के निम्नलिखित उद्धरण में प्राप्त होता है—

वधमानप्रणया तु नायिका सपत्नीनामग्रहण तदाश्रयमालाप वा गोत्रस्खलित वा न मषयेत्। नायकव्यलीक च। तत्र सुभृश कलहो रुदितमायास शिरोरुहाणामवक्षोदन प्रहणनमासनाच्छयनाद्वा मह्या पतन माल्यभूषणावमोक्षो भूमौ शय्या च।[6]

प्रवास विप्रलम्भ की अवस्था एकचारिणीवृत्त तथा कान्तानुवृत्त प्रकरणो के निम्नलिखित उद्धरणो से सूचित होती है—

प्रवासे मगलमात्राभरणा देवतोपवासपरा वार्ताया स्थिता गृहानवेक्षेत। शय्या च गुरुजनमूले।[7]

---

१ कामसूत्र, २ ७ २०
२ वही, ६ २ ६४
३ वही, २ १० २७
४ वही, ३ ३ २७
५ विलासिनोर्यो यानुकूल्य तत्रो, प्रेमपरयोर्यद् दर्शनस्पर्शनादि स सम्भोग। परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनो पारतन्त्र्यादेरघटन चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भ।—हिन्दी नाट्यदर्पण, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६१, पृष्ठ ३०६
६ कामसूत्र, २ १० २७ २८
७ वही, ४ १ ४२ ४३

प्रवासे शीघ्रागमनाय शापदानम् । प्रोषिते मृजानियमश्चालङ्कारस्य प्रतिषेध । मङ्गल त्वपेक्ष्यम् । एक शङ्ख खवलय वा धारयेत् । स्मरणमतीतानाम् । गमनमीम्मणिकोर श्रुतीनाम् । नक्षत्रचन्द्रसूयताराभ्य स्पृहणम् । इष्टस्वप्नदशने तत्सगमो ममास्त्विति वचनम् । उद्वेगोनिष्टे शान्तिकम च ॥[1]

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर कामसूत्र के प्रभाव की बात कल्पनाश्वलित नही है, वह एक तथ्य है जिसका प्रमाण नाट्यशास्त्र के शृगाररसप्रकरण में प्राप्त होता है। शृगार रतिप्रभव है, अत उसके विप्रलम्भ भेद में निर्वेद ग्लानि, शका आदि करुणरसाश्रयी भावो की स्थिति कैसे सम्भव है, इसका समाधान करते हुए भरत मुनि कहते हैं—'वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्था भिहित ।'[2] इसमें प्रयुक्त 'वैशिकशास्त्रकार' शब्द का निवचन करत हुए अभिनवगुप्त कहते है— वेशो वेश्यावग करण च सम्भोगात्मकम् । तत्प्रयोजन शास्त्र कामसूत्र कृतव तस्तै ।'[3] वास्तव में 'वैशिक अधिकरण' कामसूत्र का एक अग है, पर चूकि अग से कभी कभी अगी का द्योतन होता है वैशिक शास्त्र से कामशास्त्र का बोध होता है । यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि उक्त दश अवस्थाओ का उल्लेख कामसूत्र के पारदारिक अधिकरण में मिलता है, न कि वैशिक अधिकरण में । वात्स्यायनकथित दस कामस्थानो और भरतवर्णित दस कामदशाओ के साम्य वैषम्य का विवेचन करने पर हमारा मन्तव्य अधिक स्पष्ट होगा । कामसूत्रोक्त कामस्थान हैं—चक्षु प्रीति, मन सङग सकल्पोत्पत्ति, निद्राच्छेद, तनुता, विषयो से व्यावृत्ति, लज्जाप्रणाश, उन्माद, मूर्च्छा और मरण ।[4] नाट्यशास्त्रोक्त कामदशाएँ है—अभिलाष, चितन, अनुस्मृति गुणकीतन, उद्वेग विलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मरण ।[5] वात्स्यायन ने परदारा में प्रवृत्त पुरुष को यह परामर्श दिया है कि वह काम के स्थानान्तर या उत्तरोत्तर तीव्र होनेवाली दशा को विचारे और तभी परस्त्रीगमन करे जब बिना उसके शरीर का त्राण सम्भव नही होगा ।[6] पर ये अवस्थाएँ स्त्री में भी हो सकती है, क्योकि उज्ज्वल पुरुष को देखकर

---

१ कामसूत्र, ६ २ ६२ ६६

२ आचाय विश्वेश्वर हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५६०

३ वही

४ कामसूत्र, ५ १ ४ ५

५ नाट्यशास्त्रम्, निणयसागर प्रेस अध्याय २२, पृ० ३७०

६ यत्र तु काम स्थानात्स्थानान्तर काम प्रतिपद्यमान पश्येत्तदात्मशरीरोपघातत्राणाय परपरिग्रहानभ्युपगच्छेत् ।—कामसूत्र, ५ १ ३

उस पर रीझने की प्रवृत्ति स्त्री में होती है। दशरूपककार ने इन्हें अयोग[1] और साहित्यदर्पणकार ने पूर्वराग[2] की विशेष दशाओं के रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में इन्हें सामान्य विप्रलम्भ का अंग मानना ही उचित है, पर चक्षुप्रीति केवल पूर्वराग में ही सम्भव है। डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने वात्स्यायनोक्त कामदशाओं और भरतोक्त कामदशाओं में संगति बिठाने का प्रयास किया है।[3]

उपर्युक्त कामदशा सूचियों को देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'उन्माद' और 'मरण' को छोड़ इनमें कोई समानता नहीं है। पर दोनों सूचियों में अन्तर्भुक्त अन्य दशाओं में भी कुछ सीमा तक संगति स्थापित की जा सकती है। 'चक्षुप्रीति' तथा 'अभिलाष' को डॉ० दीक्षित ने अभिन्न माना है।[4] बिना 'अभिलाष' के कामी की आँखें प्रीतिस्निग्ध नहीं होतीं। पर इनका पौर्वापर्य निश्चित करना कठिन है। भरत ने 'अभिलाष' को 'सङ्कल्पेच्छासमुद्भव' कहा है, वात्स्यायन चक्षुप्रीति से आसक्ति की ओर आसक्ति से सङ्कल्प की उत्पत्ति मानते हैं। उसी प्रकार 'चिन्ता' और 'मन संग' में अन्तर है। 'केनोपायेन सम्प्राप्तिः कथं वासौ भवेन्मम' को भरत ने 'चिन्ता'[5] कहा है जो वात्स्यायन कथित 'सङ्कल्पोत्पत्ति' से अधिक मेल खाती है। 'सङ्कल्पोत्पत्ति' की व्याख्या करते हुए यशोधर लिखते हैं—'तस्मिन्सक्ते सङ्कल्पोत्पत्तिः कथं प्राप्स्यामि प्राप्य चैवमनुष्ठानव्यमिति'।[6] इससे हमारी उपर्युक्त मान्यता का समर्थन होता है। 'अनुस्मृति' के सम्बन्ध में भरत का कथन है—'प्रद्वेषाच्चान्यकार्याणामनुस्मृतिरुदाहृता,'[7] जो 'विषय-व्यावृत्ति' से भिन्न नहीं है। यशोधर 'विषय-व्यावृत्ति' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं— सर्वथा तद्गतचित्तत्वादन्यविषयाज्ज्वलदनलप्रख्यान्निवर्तते।[8] अतः भरत-कथित 'अनुस्मृति' वात्स्यायनोक्त 'विषय-व्यावृत्ति' ही का एक रूप है। पर जैसे 'चिन्ता' 'मन संग' का फल है वैसे ही 'विषय-व्यावृत्ति' 'अनुस्मृति' का। इस संदर्भ में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भरत काम-दशाओं के अभिनय का विवेचन करते हैं, अतः दशाओं के बाह्यरूप पर उनकी दृष्टि केन्द्रित है। वात्स्यायन की सूची से ध्वनित होता है कि

१ हिन्दी दशरूपक, चौखम्बा विद्याभवन, पृ० २६०
२ साहित्यदर्पण, पृ० ३ १८८ १६२
३ डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ३२३ ३२५
४ वही, पृ० ३२४
५ नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, २२ १७८
६ कामसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, पृ० ५१२
७ नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, २२ १७७
८ कामसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, पृ० ५१२

'लज्जाप्रणाश' 'उन्माद' एव काम-दशा है। भरत ने इसे स्वतन्त्र अवस्था नही माना है। 'निद्राच्छेद' को 'व्याधि' के अन्तगत न मानकर 'उद्वेग' का अग मानना उचित होगा। भरत 'उद्वेग' के अभिनय का निरूपण करते हुए कहते भी है, 'आसने शयने चापि न तुष्यति न तिष्ठति।'[1] 'तनुता' और 'व्याधि' मिली जुली अवस्थाएँ है। 'व्याधि' में ही 'मूर्च्छा' का सकेत मिलता है, क्योकि भरत ने कहा है—'मुह्यति हृदय क्वापि प्रयाति शिरसश्च वेदना तीव्रा। न धृतिं चाप्युपलभते ह्यष्टममेव प्रयुञ्जीत।'[2] इसी प्रकार 'जडता' 'मूर्च्छा,' का एक लक्षण माना जा सकता है। पर भरतोक्त 'गुणकीर्तन' और 'विलाप' दशाओ के समानान्तर या मिले जुले रूप कामसूत्रोक्त कामदशाओ मे नही मिलते। गुणकीर्तन' 'मन सग' का और 'विलाप' 'उन्माद' का बाह्य रूप है। लगता है कि अभिनय पर दृष्टि केंद्रित कर भरत ने इन्हे कामदशाओ में परिगणित किया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि 'गुणकीर्तन' 'उन्माद', 'व्याधि, जडता' और' 'मरण' जैसी शारीरिक तथा अभिलाष 'चिन्ता', 'अनुस्मृति' और 'उद्वेग' जैसी मानसिक कामदशाओ को भरत ने कामसूत्रोक्त कामस्थानो में कुछ परिवर्तन कर स्वीकार किया है।[3]

नायक भेद

नाट्यशास्त्र में शृगार को 'रतिप्रभव' और 'स्त्री पुरुषहेतुक' माना गया है और कामसूत्र में कामतृप्ति के लिए परस्परानुकूल्य की महत्ता प्रतिपादित की गयी है। नाट्य शास्त्र के शृगार और कामशास्त्र क रतिसुख का मूलाधार काम ही है। स्त्री पुरुष के पर स्पराकर्षण और सगमेच्छा का उद्गम काम से ही होता है। अत नाट्य-काव्यशास्त्र में शृगाररसविवेचन के अन्तर्गत विभावो के रूप में और कामसूत्र में कामालम्बनो के रूप में नायक-नायिका भेदो का निरूपण किया गया है। पर रसशास्त्र कामशास्त्र से आदिन प्रभावित है, अत आश्चर्य नही कि काव्यशास्त्रान्तर्गत नायक नायिका भेदो का विवेचन कामशास्त्रीय नायक नायिका भेदो को दृष्टिपथ में रखकर किया गया हो। दोनो मे नायक नायिका का वर्गीकरण उनके परस्पर रतिसम्बन्ध पर आधारित है।

कामसूत्र में नायक के दो भेद माने गये हैं—(१) सार्वलौकिक, और (२) प्रच्छन्न। कन्या, पुनर्भू और वेश्या के साथ प्रकट रूप से सम्बन्ध रखने वाला नायक सर्वलोकविदित कहलाता है, पर प्रच्छन्न नायक वह है जो कार्यविशेष की सिद्धि के लिए

१ नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, २२ १८१

२ वही, २२ १८८

३ एव स्थानानि कार्याणि कामतन्त्र समीक्ष्य तु।—वही, २२ १९२

परोढ़ा से साथ अप्रकट या गुप्त सम्बन्ध रखता है।[1] कामसूत्र के हिन्दी व्याख्याकार श्री देवदत्त शास्त्री[2] तथा डॉ० सत्यदेव चौधरी ने[3] 'सार्वलौकिक' नायक को 'पति' संज्ञा दी है जो कामसूत्र के इस नायक विमर्श प्रसंग में असंगत लगती है। वास्तव में सार्वलौकिक नायक के तीन भेद हो सकते हैं—पति, पुनर्भू गामी और वैशिक। कामसूत्रकालीन समाज में पुनर्भू और वेश्या के साथ रति सम्बन्ध निषिद्ध नहीं था, अतः पुरुष को इनके साथ प्रच्छन्न सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता नहीं थी। अकबरशाह और केशवदास द्वारा कथित प्रकाश और प्रच्छन्न नामक नायक भेदों का मूल स्रोत कामसूत्र ही है। 'प्रकाश' वात्स्यायनोक्त 'सार्वलौकिक', का ही नामान्तर प्रतीत होता है। भरत मुनि ने अपने रससिद्धान्त के अनुकूल 'पति' नायक का प्रधानतः वर्णन किया है, पर नाट्यशास्त्र के तेईसवें अध्याय में वैशिक' का निरूपण भी प्राप्य है। भानुमिश्र ने कामसूत्र का अनुसरण कर नायक के तीन भेद माने हैं—पति, उपपति, और वैशिक। रूपगोस्वामी ने अपनी भक्ति-पद्धति के अनुकूल पति और उपपति नामक नायक भेदों को ही मान्यता दी है।

वात्स्यायन ने गुणों के आधार पर नायकों के तीन भेद स्वीकार किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।[4] भरत मुनि ने भी स्त्री-पुरुषों की त्रिविधा प्रकृति का निरूपण किया है।[5] भरत कथित उत्तमा प्रकृति के 'ज्ञानवती', 'नानाशिल्पविचक्षणा,' 'भीतानां परिसान्त्वनी, 'नानाशास्त्रार्थसम्पन्ना', गाम्भीर्यौदार्यशालिनी' तथा 'स्थयत्यागगुणोपेता[6] लक्षण काम सूत्रोक्त 'विद्वान्', विविधशिल्पज्ञ', 'महोत्साह', 'प्रगल्भ,' 'स्थूललक्ष' तथा 'त्यागी' जैसे नायक गुणों से मिलते जुलते हैं।[7] भानुमिश्र ने केवल वैशिक के ही ये तीन भेद माने हैं।

नायिका भेद

काव्यशास्त्र पर कामशास्त्र के प्रभाव का सबसे सबल प्रमाण है उसका नायिका भेद निरूपण। कामसूत्र में वर्णित नायिका भेदों को स्वीकार कर काव्यशास्त्रकारों ने

---

१ कामसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, जयमंगला टीका, पृ० १७४
२ वही
३ डॉ० सत्यदेव चौधरी हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० १६१
४ उत्तमाधममध्यमता तु गुणगणतो विद्यात्।—कामसूत्र, १ ५ २८
५ नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, २४ १
६ वही, २४ २ ३
७ कामसूत्र, ६ १ १२

विभिन्न व्यावतक तत्त्वो के आधार पर उपभेदो क सकल्पना की और उनके सशोधन परिवधन में अपनी सूक्ष्म अन्तद ष्टि का परिचय दिया। कामसूत्र, सामाजिक परिवश और लक्ष्यो की परम्परा का अनुशीलन कर उन्होने अपनी धारणाए सुदृढ बना ली और अपनी सग्रहशील प्रतिभा के परिचायक ग्रन्थो का प्रणयन किया। नाट्यशास्त्र में आलम्बन की विभिन्न मनोदशाओं को द्योतित करने वाली चेष्टाओं के द्वारा स्थायिभाव की रसदशा म परिणति ही अभिनय का उददश्य माना गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भरत ने नायक-नायिका भेदो और तदनुकूल अभिनय प्रकारो का विवरण दिया है। इस पर कामसूत्रीय सिद्धान्तो का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। परवर्ती काव्यशास्त्रकारो ने काव्यानुकूल नायिका भेदो को स्वीकार कर शृगाररसविवेचन के अन्तगत उनका स्वरूपाख्यान किया और नये भेदोपभेदो का निरूपण भी। पर कतिपय लक्षणग्रन्थकारो ने स्वतन्त्र रूप में इस विषय को विवेच्य माना। इस प्रकार अभिनयाश्रित नायक-नायिका भेद प्रथम रसाश्रित बन गये और बाद मे रसविवेचन मे अन्तर्भाव्य इन भेदो को स्वतन्त्र प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। पर नायिका भेद वणन के इस इतिहास का मूलस्रोत कामसूत्र में मिलता है। प्रकारान्तर तथा नामान्तर से कामसूत्रीय भेदो का विवरण नाट्य काव्य शास्त्रकारो ने दिया है।

वात्स्यायनोक्त नायिका भेदो की नाट्यकाव्यशास्त्रीय नायिका भेदो से तुलना करने पर निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते है—

१ कामसूत्रकथित 'कन्या' नायिका ही काव्यशास्त्र की 'स्वकीया' है। वात्स्यायन ने कन्या विस्रम्भणप्रकरण में नवोढा को विस्रब्ध बनाने के उपचारा का वणन किया है जिसस स्पष्ट होता है कि वात्स्यायन ने नवपरिणीता को कन्या माना है।[1] विस्रम्भणो पचारों के पूव उसकी, 'अविस्रब्धा' सज्ञा होती है और विस्रम्भणोत्तर विस्रब्धा'। परवर्ती काव्यशास्त्रकारो द्वारा कथित 'विस्रब्ध नवोढा और अविस्रब्ध नवोढा' नामक स्वकीया भेद का मूलाधार यही प्राप्त होता है।

२ काव्यशास्त्र में स्वकीया के तीन भेद माने गये है—मुग्धा, मध्या, और प्रगल्भा। मुग्धा की दो श्रेणियाँ होती है—ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना। कामसूत्र के भाष्यकार यशोधरा ने कन्या के 'ससगयोग्या' और 'इतरा'[2] नामक दो भेद निरूपित किये है वे इन मुग्धा भेदो के ही नामान्तर है। ज्ञातयौवना ही ससगयोग्या है और अज्ञातयौवना असंसगयोग्या।

---

१ एव चित्तानुगो बालामुपायेन प्रसाधयेत्। तथास्य सानुरक्ता च सुविस्रब्धा प्रजायते॥ —कामसूत्र, ३ २ ३०

२ कन्या द्विविधा—ससगयोग्या इतरा च।—वही, पृ० ४०८

३ अग्निपुराणकार और भोज ने पुनर्भू या प्रत्यक्ष और भरत ने कृतशौचा के रूप में अप्रत्यक्ष कथन किया है।[१]

४ कामसूत्रोक्त 'परकीया' को संस्कृत काव्यशास्त्रकारों ने इसलिए अस्वीकार्य माना कि परकीया रति रसाभास में परिणत होती है, रस में नहीं। कामसूत्र में परकीया के परवर्ती काव्यशास्त्रकारों द्वारा वर्णित उद्बुद्धा, उद्बोधिता, सुखसाध्या, असाध्या आदि के पूर्व रूप मिलते हैं।[२]

५ कामसूत्र में पूर्वपरिणीता स्वकीया को ज्येष्ठा और पश्चात्परिणीता को कनिष्ठा कहा गया है। पर भानुमिश्र ने उस स्वकीया को ज्येष्ठा कहा है जिसके प्रति पति का सर्वाधिक प्रेम हो और उस स्वकीया को कनिष्ठा जिसके प्रति पति का प्रेम न्यूनतम हो। वात्स्यायन ने यद्यपि प्रथम आधार को स्वीकार किया है फिर भी द्वितीय आधार के बीज भी सान्निध्य कलह में मिल जाते हैं।[३]

६ परवर्ती कामशास्त्रकारों ने और काव्यशास्त्रकारों ने व्यक्तित्व की विशेषताओं के आधार पर नायिका के चार भेद माने हैं—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। इनका भी मूलाधार कामसूत्र में मिलता है। नायक-नायिकाओं के समरत का विश्लेषण वात्स्यायन और मीननाथ ने निम्नोक्त युग्मों द्वारा स्पष्ट किया है—

वात्स्यायन—शश-मृगी, वृष-वडवा, अश्व-हस्तिनी।[४]

मीननाथ—शश-पद्मिनी, मृग चित्रिणी, वृष शंखिनी, अश्व-हस्तिनी।[५]

---

१ नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, पृ० १६६, २२, १५३

२ डा० सत्यदेव चौधरी हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ३६६
सुखसाध्या—द्वारदेशावस्थायिनी। प्रासादाद्राजमार्गावलोकिनी। तरुणप्रातिवेश्यगृहे गोष्ठीयाजिनी। सततप्रेक्षिणी। प्रेक्षिता पार्श्वविलोकिनी। निष्कारणं सपत्न्याधिविन्ना। भर्तृद्वेषिणी विद्विष्टा च। परिहारहीना। निरपत्या।—कामसूत्र, ५ १, ५३
असाध्या—कामसूत्र ५ १ १७ ४६

३ या तु नायकाधिका विक्रीर्येत्ता भूतपूर्वसुभगया प्रोत्साह्य कलहयेत।
—कामसूत्र, ४ २ ६

४ शशो वृषोऽश्व इति लिंगतो नायकविशेषाः। नायिका पुनर्मृगी वडवा हस्तिनी चेति।
तत्र सदृशसम्प्रयोगे समरतानि त्रीणि।—वही, २ १ १ २

५ शशक पद्मिनी चैव चित्रिणी च मृगस्तथा। शंखिना वृषभश्चैव हस्तिनी तु हयस्तथा।
रमते तुल्यभावेन तदा समरतं भवेत्।
—पण्डितराज ढुण्ढिराजशास्त्री कामकुतूहल, स्मरदीपिकामंजरी,
पृ० ५–६, छन्द ४४

इससे स्पष्ट है कि मृगी ही पद्मिनी है जो रूपगुणादि में सर्वश्रेष्ठ नायिका मानी गयी है। अत मृगी के दो भेद हुए—पद्मिनी और चित्रिणी। कामसूत्रोक्त वडवा ही परवर्ती कामशास्त्रकारो द्वारा वर्णित शखिनी है। हस्तिनी भेद दोनो में पाया जाता है।

७ गुण के आधार पर किये गये उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा, अवस्था के आधार पर किये गये स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता तथा प्रोषितपतिका और नायक प्रेम के आधार पर किये गये गर्विता, अन्यसम्भोगदुखिता यथा मानवती आदि भेदोपभेदो का मूल उत्स कामसूत्र ही है।

८ नाट्यशास्त्र के द्वाविंश अध्याय में स्त्रियो के तीन भेद दिये हैं—अभ्यन्तरा, बाह्या, और बाह्याभ्यन्तरा। भरत कुलीना को आभ्यन्तरा, वेश्या को बाह्या और कृत शौचा नारी को बाह्याभ्यान्तरा मानते है।[1] यहाँ स्वकीया को कुलीना, और शुद्धशीला वेश्या या पुनर्भू को कृतशौचा कहा गया है।[2] भरत ने कुलजा और कन्यका नामक भेदो का भी इस प्रसग में उल्लेख किया है।[3] चारायणकथित कुलयुवति और घोटकमुख कथित गणिकादुहिता में इनका मूलाधार प्राप्त होता है।[4]

दूत दूती विमर्श

साहित्य और प्रधानत नाटक लोकवृत्तानुकरणात्मक होता है। नायक-नायिका का सन्देश एक दूसरे के पास पहुचाने वाले पात्रो की योजना उसमें होती है। इन पात्रो को दूत दूती कहते है। पर इनका कार्य इसके अतिरिक्त नायक नायिका को एक-दूसरे के प्रति आकर्षित करना तथा उनका मिलन कराना भी होता है। कामसूत्र और नाट्य काव्य-शास्त्र के दूत-दूती विमर्श का अवेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य निस्सृत होते हैं—

१ नायका नायिका भेद का काव्यशास्त्रीय निरूपण कामसूत्र पर आधारित है, फिर भी उन भेदो का प्रत्यक्ष वर्णन कामसूत्र म नही मिलता, पर काव्यशास्त्रीय दूत दूती निरूपण उतना विस्तृत और सागोपाग नही है जितना कि कामसूत्र का।

---

१ बाह्य चाभ्यन्तरा चैव स्याद्बाह्याभ्यन्तरापरा।
—नाट्याशास्त्रम्, जी० ओ० एस० २२ १५२

२ कुलीनाभ्यन्तरा ज्ञेया बाह्या वेश्यागना स्मृता।
कृतशौचा तु या नारी सा बाह्याभ्यन्तरा स्मृता॥ —वही, २२ १५३

३ अन्त पुरोपचारे तु कुलजा कन्यकापि वा। —वही, २२ १५४

४ कामसूत्र, १ ५ २४ २५ तथा नाट्यशास्त्र, जा० ओ० एस०, अभिनवगुप्त की टीका पृ० १६६

२ नाट्यशास्त्र में दूती के इन गुणों का निर्देश किया गया है—विज्ञानगुण सम्पन्ना, कथिनी, लिंगिनी, प्रोत्साहन में कुशला, मधुरकथा, दक्षिणा, कालज्ञा, लब्धा, सवृतमन्त्रा।[१] कामसूत्रोक्त दूत दूती-गुणो से ये मेल खाते हैं। कामसूत्र में उल्लिखित पटुता ही लब्धता या प्रगल्भता है, प्रतारणकालज्ञता ही कालज्ञता है, और लब्धो प्रतिपत्ति का प्रोत्साहन में कुशलता से सम्बन्ध है। भरत के मतानुसार दूती-कार्य है यथोक्तकथन या सन्देशापण और नायिका का भावपरीक्षण।[२] यही कामसूत्रीय परिभाषा में इंगिताकारज्ञता है। दूती विविध कारणों का कथन कर नायिका को नायक मिलन के लिए प्रोत्साहित करती है। वह नायक के काम का निवेदन करती है और नायिका को अनुकूल बना लेती है।[३] कामसूत्र और नाट्यशास्त्र दोनो में इसका वर्णन किया गया है। पुरुष भी दूतकर्म कर सकता है।

३ दूती के आठ भेदों की विवेचना कामसूत्र में मिलती है—निसृष्टार्था, परिमितार्था, पत्र-हारी, स्वयदूती, मूढदूती, भार्यादूती, मूकदूती, और वातदूती।[४] साहित्य दर्पण में केवल तीन दूती भेदो का उल्लेख किया गया है।[५] निसृष्टार्था, मितार्था और 'सन्देशवाहिका' काम सूत्र की अंतिम ज्ञात दूतियो का समाहार साहित्यदर्पण की 'सन्देशवाहिका' में किया जा सकता है।

४ कामसूत्रकार के अनुसार विधवा, दासी, भिक्षुकी, शिल्पकारिका, तथा रजक, नापित मालाकार आदि की स्त्रियाँ दूतीकार्य में सिद्ध होती हैं।[६] नाट्यशास्त्रकार ने इसी का अनुसरण कर पड़ोसिन, सखी, दासी, कुमारी, कारशिल्पिनी, धात्री, पाषण्डिनी और रंगोपजीविनी को दूतकर्म में कुशल माना है।[७]

नायक सहाय

कामसूत्र में नायक के सहायकों एवं विश्वासपात्र मित्रों का वर्गीकरण तीन तत्त्वों के आधार पर किया गया है—स्नेह, गुण और जाति। जातिमित्रों में रजकनापितादि

---

१ नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, २३ ६ ११

२ यथोक्तकथन चैव तथा भावप्रदर्शनम्।

—नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, २३ १२

३ तथाप्युत्साहन कार्य नानाश्रितकारणम्। —वही, २३ ११

सा नायकस्य चरितमनुलोमता कामितानि च कथयेत्। —कामसूत्र ५ ४ १०

४ कामसूत्र, ५ ४ ४५

५ साहित्यदर्पण, चौखम्बा विद्याभवन, ३ ४७ ४८

६ कामसूत्र, ५ ४ ६३

७ नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, २३ ६ १०

के साथ पीठमर्द, विट और विदूषक का भी परिगणन वात्स्यायन ने किया है। इनकी स्त्रियाँ भी मित्र बन सकती है।[1] काव्यशास्त्र में पीठमर्द, विट, चेट विदूषक तथा अन्य गुणी नायकसहायों का स्वरूपाख्यान किया गया है।[2] इनका तुलनात्मक अध्ययन करने पर निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती है—

१ कामसूत्र में काव्यशास्त्रसम्मत 'चेट का कोई उल्लेख नहीं मिलता, पर काव्यशास्त्र में शेष नायकसहायों का निरूपण कामसूत्रीय विवरण पर आधारित है। पीठमर्द का उल्लेख नाट्यशास्त्र म नहीं मिलता, पर साहित्य दर्पण में न्यूनगुण नायक को और दशरूपक में पताकानायक को पीठमर्द माना गया है। कामसूत्रीय पीठमर्द की व्याख्या इससे भिन्न है जिसे भानुमिश्र ने स्वीकार किया है। भोज ने भी पीठमर्द का लक्षण कामसूत्र के अनुसार ही दिया है।[3] नाट्यशास्त्र म विट को वेश्योपचारकुशल, मधुर, दक्षिण, कवि, ऊहापोहक्षम, वाग्मी और चतुर माना गया है।[4] भरत के अनुसार विदूषक, वामन, दन्तुर, कुब्ज द्विजिह्व विकृतानन और पिंगलाक्ष होता है। कामसूत्र के वैहासिक को इस प्रकार शारीरिक विकृति में परिणत किया गया है। अभिनवगुप्त ने उसे विदूषक इसलिए कहा है कि वह विप्रलम्भ को विनोद से दूषित करता है।[5]

२ अत काव्यशास्त्रीय नायकसहायों के स्वरूपाख्यान का मूलाधार कामसूत्र में प्राप्य है।

शृंगार का रसराजत्व

नाट्यशास्त्र मे भरत मुनि ने परम्परानुमोदित रस सख्या को स्वीकार कर आठ रसों का विवेचन किया है—शृगार, हास्य, करुण रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत। पर अभिनवगुप्त ने इस सूची में शान्त को जोड़कर रस-सख्या का निर्धारण करते हुए कहा है, 'एव ते नवैव रसा । इनके अतिरिक्त स्नेह, वात्सल्य, भक्ति, माया, लौल्य, कार्पण्य, प्रकृति, देशभक्ति, भ्रान्ति, उद्वेग, प्रक्षोभ आदि को स्वतन्त्र रसो के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास विद्वानो ने किया है। भोज, अग्निपुराणकार, केशव,

---

१ कामसूत्र, १ ५ ३२ ३४

२ साहित्यदर्पण, चाखम्बा विद्याभवन, ३ ३६ ४२

३ डा० सत्यदेव चाधरी हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ३६७

४ नाट्यशास्त्रम्, निर्णयसागर प्रेस, पृ० ६५५

५ सुरतविषये सन्धिग्रहणे। विग्रह वा सन्धिना दूषयतीति विदूषक । विप्रलम्भनत्वे (कथा) विनोदने (ने) दूषयन्ति विस्मारयन्ति।—नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, विभाग ३, अभिनवगुप्त की टीका, पृ० २५१ २६२

चिंतामणि आदि ने शृंगार हो को रसराज की उपाधि से विभूषित किया है। पर शृंगार के रसराजत्व का मूल कारण है नाट्य-काव्यशास्त्र पर कामसूत्र का प्रभाव।

रसशास्त्र का 'रस' शब्द कामसूत्र में 'रति' का पर्याय माना गया है। अत रस सिद्धात के अनुसार रति या शृगार की प्रधानता अनिवाय है। रतिसम्भोगकारक स्त्री पुरुषसयोग ही शृगार है, वह शुभ है,[१] उज्ज्वलवेषात्मक है। ससार में जो कुछ शुचि, उज्ज्वल तथा दशनीय है वह शृगार से उपमित किया जाता है।[२] 'शृग ऋच्छति इति शृगार'—इस प्रकार शृगार की व्युत्पत्ति मानी जाती है। कतिपय विद्वान 'शृग' शब्द 'शृ' धातु से बना मानते हैं जिसका प्रयोग गति, हिंसा या दशन के अथ में होता है। सीग, पवत शिखर जसी नुकीली वस्तु 'शृग' शब्द स सूचित होती है। अथविस्तार से उसका अथ हुआ 'कामदव'।[३] फायडीय प्रतीकविश्लेषण के अनुसार 'शृग' पुरुष के उपस्थेंद्रिय का प्रतीक माना जा सकता है। विश्वनाथ न 'शृग' से तात्पय 'काम का आविर्भाव माना है और 'शृगार' से 'कामोदभेद की प्राप्ति'।[४] ये सब व्याख्याएँ काम सूत्र के प्रभाव की द्योतक हैं।

प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक काव्यशास्त्रकारो के विवेचन म दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप स परिलक्षित होती है। पहली प्रवृत्ति के अनुसार शृगार ही एकमात्र रस है और अय रस इस शृगार-सागर को केवल तरगें हैं।[५] दूसरी प्रवृत्ति वात्सल्य, देश भक्ति, प्रकृति प्रेम, भक्ति सख्य आदि का रति में ही समाहार करती है।[६]

---

१ नाट्यशास्त्रम्, जी० ओ० एस०, २२ ९८

२ वही, विभाग २, १९५६, पृ० ३००

३ सुरेंद्र बारलिंगे सौन्दर्याचे व्याकरण, पादटिप्पणी, पृ० १०१

४ शृग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुक। उत्तमप्रकृतिप्रायो रस शृगार इष्यते॥
—साहित्यदपण, चौखम्बा विद्याभवन, ३ १८३

५ शृगार एवैक चतुवर्गैककारण स रस इति। —भोज
प्रेमरस सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीत्यत्र महीयानेव प्रपच।

—द नवर आव रसाज, पृ० १७०

सबको केशवदास हरि नायक है शृगार। —केशवदास रसिकप्रिया, १ १६

६ कोल्हटकर लेख-सग्रह, पृ० ८३४
द० के० केळकर काव्यालोचन, पृ० १४८
'दाम्पत्य रति, वात्सल्य रति, मैत्री, स्वदेश प्रेम धम प्रेम, सत्य प्रेम आदि रति के ही विभिन्न रूप हैं। —आ० रामचन्द्र शुक्ल रस-मीमासा, पृ० १७०

रति के आस्वाद्यत्व की उत्कटता, मौलिकता और व्यापकता के आधार पर कतिपय आचार्यों ने शृ गार को प्रधान रस माना है। रसपरिगणना म 'शृ गार ही को प्रथम स्थान दिया गया है।[1] उसकी मीमासा करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि शृगार को प्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि काम सब जातियो में सुलभ है, सबके अत्यन्त परिचित है और सबके लिए हृदय है।[2] ध्वन्यालोककार का कथन है कि 'शृगार हि ससारिणा नियमेन अनुभवविषयत्वात् सवरम्य कमनीयतया प्रधानभूत'। शारदा तनय ने 'भोग ही को शृगारविशेष मानकर मनोनुकूल अर्थों में सुखसवदनात्मिका इच्छा को रति कहा है और उसके रति तथा प्रीति भेदो को ही स्थायिभावो की उत्पत्ति का मूलस्रोत माना है।[3] इससे स्पष्ट है कि रसाचार्यों ने काम की व्यापकता, अनिवायता, सवजनसुलभता और मौलिकता को स्वीकार किया है। कामानन्द ही रसानन्द है, जिसे कामसूत्र का प्रतिपादय मानना उचित है। अत शृगार को रसराज घोषित करने की प्रवृत्ति का मूलस्रोत कामसूत्र में प्राप्त होता है।

कामसूत्र और काव्यशास्त्र का सम्बन्ध

उपयुक्त विवेचन से यह निष्कष निकलता है कि शृ गार रस की सम्पूण सामग्री का मूल उत्स कामसूत्र है। रससिदधान्त के आद्य आचाय भरत मुनि ही नही अपितु परवर्ती काव्यशास्त्रकार भी कामसूत्रीय सिद्धान्तो से प्रभावित है। भरत ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'प्रायेण सवभावाना कामार्न्निष्पत्तिरिष्यत'।[4] वात्स्यायनकृत सामान्य काम की परिभाषा का अनुसरण करते हुए वे लिखते है—

पचानामिन्द्रियार्थाना भावा ह्येतनुभाविन।
श्रोत्रत्वङ्नेत्रजिह्वाना घ्राणस्य च तथैव हि॥[5]

उनके स्त्री-पुसयोस्तु योगो य स तु काम इति स्मृत' में वात्स्यायनकृत विशेष काम का निरूपण हुआ है।[6] वात्स्यायन के य कश्चिदुज्ज्वल पुरुष दृष्ट्वा स्त्री कामयते

---

१ आचाय विश्वेश्वर हिन्दी अभिनवभारती, ६ १५

२ तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूव शृगार।
—वही, पृ० ४३२

३ भोग स एव शृगारविशेष इति गीयते। —भावप्रकाश ४ ३
मनोनुकुलेष्वर्थेषु सुखसवेदनात्मिका इच्छा रति। —वही, २ ११

४ नाट्यशास्त्रम् जी० ओ० एस०, २२ ९५

५ वही, २२ ८६

६ वही, २२ ९६

का अनुवाद भरत ने 'दृष्ट्वा पुरुषविशेष नारी मन्मातुरा भवति' में किया है।[1] कामोद्भव के सम्बन्ध में भरत का निम्नलिखित कथन कामसूत्रानुमोदित है—

श्रवणाद्दर्शनाद्रूपादङ्गलीलाविचेष्टितै ।
मधुरैश्च समालापै काम समुपजायते ।[2]

कामसुख के प्रति संकेत करते हुए भरत कहते हैं 'भूयिष्ठमेव लोकोय सुखमिच्छति सर्वदा । सुखस्य हि स्त्रियो मूलं नानाशीलाश्च ता पुन ॥[3] कामोद्भव के बाद स्त्रोपचारा की आवश्यकता भरत ने प्रतिपादित की है—

भावाभावौ विदित्वा च तत्र वैस्तैरुपक्रमै ।
पुमानुपचरेन्नारी कामतन्त्र समीक्ष्य तु ॥[4]

चुम्बनादि उपचारो का उल्लेख कर वे इन्हे रगमंच पर निषिद्ध कर देते हैं—

न कार्य शयन रङ्गे नाट्यधर्म विजानता ।
केनचिद्वचनार्थेन अङ्कच्छेदो विधीयते ॥
यद्वा शयीतायवशादेकाकी सहितोऽपि वा ।
चुम्बनालिङ्गन चैव तथा गुह्य च यद्भवेत् ।
दन्तच्छेद्य नखच्छेद्य नीवीस्रसनमेव च ।
स्तनान्तरविमर्द च रङ्गमध्ये न कारयेत् ॥[5]

दूती प्रत्यय समागम के स्थानो का उल्लेख भरत ने कामसूत्र के अनुसार ही किया है।

उत्सवे रात्रिसचार उद्याने मित्रवेश्मनि ।
धात्रीगृहेषु सन्ध्या वा तथा चैव निमन्त्रणे ।
व्याधितव्यपदेशेन शून्यागारनिवेशने ।
कार्य समागमो नृणा स्त्रीभि प्रथमसङ्गमे ॥[6]

इस प्रकार नाट्यशास्त्र पर कामसूत्र के प्रभाव के पुष्कल सबल प्रमाण प्राप्त होते हैं जिन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

१ कामसूत्र, कामतन्त्र या कामशास्त्र के स्थान-स्थान पर किये गये उल्लेख ।[7]

---

१ नाट्यशास्त्रम् जी० ओ० एम० वि० ३, २२ १५६
२ वही, २२ १५८
३ वही, २२ ६६
४ वही, २३ ६४
५ वही, २६५ ६८
६ वही, २३ १५ १७
७, डा० रामलाल वर्मा हिन्दी काव्यशास्त्र में शृगार रस विवेचन, पृ० १७४ ७५

२ कामविवेचन पर कामसूत्र का प्रभाव ।

३ शृगार की सामग्री के विवेचन में कामसूत्रीय सिद्धान्तो का प्रभाव ।

फ्रायड और साहित्य

स्वप्नतन्त्व और सजनशील कवि मन

फ्रायड के मन में कवियों और कलाकारा के प्रति नितान्त आदर था । साहित्यकार की भावात्मक अतदृष्टि की उन्होने भूरि भूरि प्रशसा की है । उनकी सत्तरवी वर्षगाठ के अवसर पर जब उन्हें 'अवचेतन का अन्वेपक' कहकर गौरवान्वित किया गया तब इसका प्रत्याख्यान करते हुए उन्होने कहा था—'मेरे पूर्व ही कवियो और दार्शनिको ने अवचेतन का अन्वेषण किया है । मैने केवल उस अवचेतन के अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली का आविष्कार किया है ।'[1] उन्होने अवचेतन के अन्वेपको का स्तोत्र इसलिए गाया कि ये अन्वेपक जीवन में प्रच्छन्न प्रवृत्तिया के काय की महत्ता जानते थे । मनोविश्लेषण और कला का परस्पर सम्बन्ध इससे स्पष्ट होता है ।

कला की सजन प्रक्रिया और स्वप्न प्रक्रिया में समानता है । मनुष्य का अवचेतन *मन कुण्ठित इच्छाओ का समृद्ध कोष है । कला तथा स्वप्न इन्ही कुण्ठित इच्छाओ की* पूर्ति के भिन्न भिन्न रूप ह । दोनो दमन तथा उसके परिणामो की ओर सकेत करते है । दोनो स्थानापन्न परितुष्टि के प्रतिरूप ह । यथार्थ-तत्त्व तथा सुख-तत्त्व के बीच जो समझौता होता है वही दोनों के द्वारा अभिव्यक्त होता है । यथार्थ के साथ समायोजन करने की ये दो पद्धतियाँ हैं । एक में पराहम् की अधीनता से मुक्त अहम् इदम् पर विजय पाता है, तो दूसरी में यथार्थ से सम्बद्ध क्रियाओ के स्थान पर आन्तरिक भावजगत् में परिवर्तन होता है । प्रथम पद्धति व्यावहारिक होती है, दूसरी मन सृष्ट्यात्मक । स्वप्न और कला इस दूसरी पद्धति के ही फल हैं । दोनों के मूल में अवचेतन प्रक्रिया होती है । कलाकार अपनी सहजजात प्रवृत्तियों को कला के सजन में लगा देता है और उनके रूपान्तर में सफलता प्राप्त करता है । पर स्वप्नदर्शक इसमें असफल होता है । अवचेतन के दमन में अहम् की ऊर्जा जब व्यय हो जाती है, तब सधि के लिए माग खुल जाता है । कलाकार जब यथार्थ में अपनी प्रवृत्तियो की सन्तुष्टि नही कर पाता, तब यथार्थ से पलायन करता है और कल्पना की तरगो म बहकर ऐसी आभासात्मक सृष्टि का निर्माण करता है जिसमें उनकी परितुष्टि की सम्भावना रहती है । अपनी प्रतिभा शक्ति के बल पर वह नये जगत् की सृष्टि करता है, पर यह कला जगत् यथार्थ जगत् स भिन्न और भ्रमात्मक ही होता है । इस प्रकार कलाकार उसी तरह समाज के कड़े बधनों से छुटकारा पाकर आत्मतृप्ति अनु

1 Lionel Trilling The Liberal Imagination, Mercury Books, p 34

भव करता है जिस तरह स्वप्न दर्शक।[1]

हमने देखा है कि स्वप्न-तन्त्र में सघनन, विस्थापन, बिम्बरचना तथा प्रतीक योजना जैसी प्रक्रियाओं का महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रच्छन्न स्वप्न को व्यक्त स्वप्न में ढालने में ये यन्त्रणाएँ कार्यशील रहती हैं। उसी प्रकार कवि के अवचेतन में निहित अव्यक्त काव्य को शब्दबद्ध रूप में व्यक्त करने में भी ये कर्मरत रहती हैं। फ्रायड ने स्वप्न प्रक्रम के विभिन्न स्तरों का वर्णन किया और उसके आधार पर कविकल्पना को दिवा स्वप्न, जो कि स्वप्न का केवल सतही अंग माना जाता है, से अभिन्न माना।[2]

स्वप्न में सघनन तीन पद्धतियों से होता है—१ प्रच्छन्न स्वप्न के कुछ अंग व्यक्त स्वप्न में प्रकट नहीं होते। २ प्रच्छन्न स्वप्न का केवल एक अंश व्यक्त स्वप्न में आविर्भूत होता है। ३ समान विशेषता के कारण प्रच्छन्न स्वप्न के अंग व्यक्त स्वप्न में मिलकर एक हो जाते हैं।[3] इस तीसरी पद्धति का सघनन अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। व्यक्त स्वप्न का 'क' व्यक्ति वास्तव में 'य', 'र', 'ल' आदि व्यक्तियों की विशेषताओं का मिला-जुला रूप होता है। उसका बाह्य व्यक्तित्व 'य' के समान, वस्त्र-परिधान 'र' के समान और व्यवसाय 'ल' के समान हो सकता है। सम्भवतः साहित्य के पात्रों में भी इस प्रकार का सघनन होता है। मुक्तक काव्य की सामासिकता, लुप्तोपमा, श्लेष आदि काव्य रूढ़ियों के मूल में सघनन की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। सर्जनशील प्रतिभा विभिन्न भावों, विचारों और बिम्बों को मिलाकर एक संश्लिष्ट रूप प्रदान करती है। अतः रूपक बिम्बात्मक सघनन का एक प्रतिरूप माना जा सकता है।

---

1 'The artist brings about the compromise between the *pleasure* and the reality principles in a peculiar way. He turns away *from reality as he cannot stand the renunciation of instinctual* gratification and satisfies himself in his phantasy allowing the *primordial desire full play*'

—Dr Padma Agrawal Symbolism A Psychological *Study*, p 111

2 'It is tempting to identify poetry and dream, or shall we say, to qualifications of a technical and linguistic nature the imagination and dream Freud had found it necessary to distinguish between various stages or degrees of dream activity and it is with the most superficial level which we call day dreaming that he tends to identify the poetic imagination'

—Herbert Read Collected Essays In Literary Criticism, p 103

3 Freud *A General Introduction To Psychoanalysis*, pp 179 180

स्वप्न निर्माण म विस्थापन के दो रूप हो सकते है—१ प्रच्छन्न स्वप्न के किसी अवयव के स्थान पर किसी दूसरी वस्तु का आ जाना, और २ प्रच्छन्न स्वप्न क किसी प्रधान अश से बलाघात का गौण अग पर पहुच जाना।[१] साहित्य के विभिन्न पात्रो के आचरण म यह विस्थापन प्रक्रिया कभी कभी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। 'चित्रलेखा' उपन्यास की नायिका का अपने पूर्व प्रेमी के स्थान पर बीजगुप्त को स्थापित करना इसका उदाहरण है।

पर सघनन या विस्थापन से अधिक महत्त्वपूर्ण कवि कर्म है बिम्ब निर्माण और प्रतीक-योजना। ये दोनो प्रक्रियाएँ स्वप्न निर्माण में महत्वपूर्ण मानी गयी है। प्रच्छन्न स्वप्नविचार अन्ततोगत्वा दृश्य बिम्बो में परिवर्तित हो जाते हैं। स्वप्न-अधिवेक्षक प्रच्छन्न स्वप्नविचारो को मूल रूप म अभिव्यक्त नही होने देता, अत ये विचार रूपान्तरित होकर प्रतीको के द्वारा व्यक्त स्वप्न में अभिव्यक्त होते है। उसी प्रकार काव्य के बिम्ब और प्रतीक दमन के फलभूत और कल्पना क सारभूत अग होते है। प्रतीको की योजना द्वारा अहम् मूल प्रवृत्तियो क आक्रमण से अपनी रक्षा का प्रबन्ध करता है। अत अवचेतन स्थित इच्छाओ का विरूपण एव वेषान्तर स्वप्न तथा कला दोनो म होता है। इसी से कला स्वप्न क समान रहस्यात्मक और अबोध्य सी बन जाती है। अत मनोविश्लेषण के अनुसार कला अवचेतन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

कला भी स्वप्न के समान चेतनात्मक होती है। प्राय हम स्वप्न को विश्रृंखल और अस्तव्यस्त मानते है पर स्वप्न म भी एक विशेष चयन और क्रम होता है। फिर भी स्वप्न के चयन और कला के चयन में अन्तर होता है। जहाँ कला के अगो का चयन और सयोजन किसी बौद्धिक योजना का अनुसरण करता है, वहाँ स्वप्न में उसका उद्देश्य प्रतीकात्मक होता है। हर्बट रीड ने इसकी ओर सकेत करते हुए कहा है कि वही कला कृति चिरजीवी होती है जो स्वप्न की तरह अतार्किक और विश्रृङ्खल होती है।[2]

स्वप्न निर्माण और कला-सृजन में समानता देखकर कतिपय आलोचको ने स्वप्न म सृजनशील मन का सूत्र खोजने का प्रयास किया है। यूजेन जोलास ने तर्कशील सम्प्रेषण को सतही मानकर 'रात्रि जीवन की भाषा' के द्वारा उसकी पूर्ति की आवश्यकता

---

१ फ्रायड मनोविश्लेषण पृष्ठ १५६

2 But those works of art which are irrational and dream like legendary myths and folk tales and the poems which embody them—these survive all economic and political changes the transformations of peoples, and the metamorphosis of language

—Herbert Read Collected Essays In Literary Criticism, p 104

समझी थी। नये भाव-बोध का संकेत स्वप्न के द्वारा ही प्राप्त होता है, अत स्वप्न को उन्होंने काव्य-सौन्दर्यात्मक मुक्ति माना। उनके अनुसार स्वप्नानुशीलन हमारे कलात्मक बोध को बल प्रदान करता है और काव्य-सृजन को व्यापक महत्ता देकर कल्पित सम्भावनाओं में आध्यात्मिकता और प्रतीक कथा की ओर ले जाता है।[1]

स्नायुरोगी और कवि

मनोविश्लेषकों ने कलाकार की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए कहा है कि वह ऐसा स्नायुरोगी है जो कला में अपनी निरुद्ध या दमित इच्छाओं की प्रत्यादिष्ट परितुष्टि कर लेता है। मूल प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि का परित्याग वह नहीं कर सकता। अत वह यथार्थ से पलायन कर कल्पना-जगत् में अपनी अतृप्त कामेच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की परिपूर्ति कर लेता है। पर उसकी विशेषता यह है कि वह इस कल्पना जगत् से पुन यथार्थ में आ जाता है। अपनी प्रतिभा के बल पर वह उन कल्पनाओं को एक नये यथार्थ में ढाल लेता है। लोग उसकी कल्पनाओं को यथार्थोपयुक्त और मूल्यवान् विचारों के रूप में स्वीकार करते हैं। 'कलाकार एक विशेष पद्धति को अपना कर वास्तविक रूप में नेता, राजा, स्रष्टा, और जनप्रिय मनुष्य बन जाता है। पर बाह्य जगत् में किसी प्रकार परिवर्तन करने का कार्य वह नहीं करता। कलाकार की इस सफलता या उपलब्धि का कारण यह है कि अन्य लोग भी यथार्थ की माँग से असन्तुष्ट रहते हैं और यह असन्तोष जो कि यथार्थ-तत्त्व के सुख-तत्त्व का स्थान ग्रहण करने का फल है, यथार्थ ही का एक अंश होता है।[2] इस प्रकार कलाकार यथार्थ के कठोर प्रहार को सहनीय

---

1 'The study of the dream is a poetic esthetic liberation It solidifies our artistic perceptions and gives the poetic creation a universal significance that leads to the metaphysical and the mythological in all its fabulus possibilities '

—Eugene Jolas, quoted by Hoffman in 'Freudianism And The Literary Mind p 82

2 The artist is originally a man who turns away from reality because he cannot come to terms with the demand for the instinctual satisfaction as it is first made and then in phantasy-life allows full play to his erotic and ambitious wishes But he finds a way of return from this world of phantasy back to reality with his special gifts he moulds his phantasies into a new kind of reality and men concede them a justification as valuable reflections of actual life Thus by a certain path he actually becomes the hero king creator favourite he desired to be without pursuing the circuitous path of creating real alterations in the outer world ' Freud : Collected Papers, Vol IV, p 19

बनाने का काम करता है। वह स्वयं अपनी इच्छा और यथार्थ के संघर्ष की तीव्रता को कम करने की क्षमता रखता है। अपनी कला के द्वारा वह अन्य लोगों के लिए भी अवचेतन तुष्टिस्रोतों से शान्ति प्राप्त करने की सम्भावना पैदा करता है।[1]

कला कामप्रवृत्ति का उन्नयन

इस दुःखमय जगत् में सुख की प्राप्ति का एक उपाय है लुब्धा का विस्थापन। मूलप्रवृत्तियों के लक्ष्यों को इस प्रकार विस्थापित किया जाता है कि बाह्य यथार्थ में वैफल्यजनित दुःख सहना नहीं पड़ता। इसमें उन्नयन प्रक्रिया सहायता पहुँचाती है। कलाकार अपनी कामप्रवृत्ति का उन्नयन कर लेता है और अपनी तारंगिकता का अभिव्यक्ति देकर सर्जन का आनन्द अनुभव करता है। पर इस सुख की प्राप्ति इने गिने लोग ही कर सकते हैं। फ्रायड ने कहा है कि सौन्दर्य प्रेम ऐसी प्रवृत्ति का उदाहरण है जिसमें मूल उद्देश्य निरुद्ध हो जाता है। अतः कला मूलप्रवृत्ति का उदात्तीकृत रूप अंकित करती है। उसमें जीवन के उच्चादर्शों की प्राप्ति में ऊर्जा व्यय हो जाती है। शार्प का कथन है कि उन्नयन प्रक्रिया के सफल हो जाने पर अहम् को यथार्थ के शत्रु से कोई भय नहीं होता। यह उन्नयन एक प्रकार की क्षतिपूर्ति है निग्रह है चिन्ता निराकरण है।[2]

कला कामप्रवृत्ति के उदात्तीकरण का एक रूप है। उसके निर्माण में जो ऊर्जा आवश्यक होती है, वह कामप्रवृत्ति से प्राप्त होती है। काम-ऊर्जा कलात्मक ऊर्जा में रूपान्तरित होती है, कामप्रवृत्ति का उन्नयन कला में चरमावस्था को पहुँच जाता है।[3]

इस दृष्टि से कलाकार एक सफल स्नायुरोगी है। स्नायुरोगी अपनी विकृति का त्याग देता है या उसे उन्नयन के द्वारा उचित दिशा में मोड़ देता है। कलाकार अपनी विकृति के उन्नयन के कारण समादरणीय बन जाता है।

अभिव्यक्ति और आत्मशासन

फ्रायड ने कला के दो कार्यों के प्रति संकेत किया है—१ अभिव्यक्ति, और

---

1 he makes it possible for others in their turn to obtain solace and consolation from their own unconscious sources of gratification which had become inaccessible'

—Freud : A General Introduction p 327

2 The hostility of the incorporated object no longer menaces the ego the sublimation is a reparation, a control, a nullification of anxiety

—The Year book of Psychoanalysis, p 118

3 Dr Padma Agrawal Symbolism A Psychological Study, p 107

२ स्वशासन। कविता कवि की अन्तरात्मा से फूट पड़ती है। यह अभिव्यक्ति व्यक्तित्व के सन्तुलन को बनाये रखने में सहायक होती है। गेटे के 'द सारोज आव यग वेटर' में उसके यौन जीवन की विफलताएँ रूपान्तरित होकर अभिव्यक्त हुई हैं। इस अभिव्यक्ति के बाद गेट को स्वास्थ्य लाभ हुआ।[1]

इस प्रकार फ्रायड ने प्रथम यह प्रतिपादित किया कि कला का कार्य रेचनात्मक होता है। पर 'बियाण्ड द प्लेज़र प्रिंसिपल' में उन्होंने आत्मशासन को कला का कार्य माना। कला की प्रेरणा बालक की क्रीडा प्रेरणा के समान होती है। बालक क्रीडा के द्वारा अपनी दशा का शासक या स्वामी बन जाता है। क्रीड़ा और कला में आत्माभिव्यक्ति से आत्मशासन की ओर फ्रायड के इस झुकाव से केथार्सिस की नयी व्याख्या की जा सकती है। रीफ न इसे बड़े सुन्दर ढग से स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि फ्रायड भी अरस्तू के समान केथार्सिस में आवेगो की अभिव्यक्ति को स्वीकार करते है। पर अरस्तू ने दर्शकों के केथार्सिस का विवेचन किया, फ्रायड के अनुसार कलाकार ही अभिनेता और दर्शक होता है। अरस्तू ने ऐसा कोई मापदण्ड नही दिया जिससे यह जाना जा सके कि किन हानिकर भावों का विरेचन आवश्यक है। फ्रायड ने स्पष्ट किया है कि उन दमित या निरुद्ध भावो का विरेचन होता है जिनके प्रति व्यक्ति प्रथम निष्क्रिय रहता है।[2] एक दृष्टि से कलाकृति एक सेफ्टी वाल्व है, प्रदर्शन प्रवृत्ति का एक रूप है, दूसरी दृष्टि से वह भावात्मक सन्तुलन स्थापित करने का एक साधन है।[4]

---

1 Philip Rieff Freud The Mind of the Moralist, p 346

2 Ibid, pp 346 347

3 A catharsis cannot take place with any emotion which is vented but only with emotions toward which the patient had previously been passive and these emotions can be characterized even further they involved the original feature of inhibition or repression'

—Ibid, p 347

4 In one view a work of art is a safety value a form of exhibitionism in which the tension accumulated by private motives is drained off in public display but in another view, the work of art is more positively a means of achieving emotional stability '

—Ibid p 349

कतिपय आलोचकों ने साहित्य-मीमांसा में फ्रायड का ऋण स्वीकार किया। जिनमें प्रमुख हैं—प्रेस्काट, हर्बर्ट रीड, एडमंड विल्सन, बर्नेथ बर्क, हाफमन और ट्रिलिंग। वास्तव में साहित्य सृजन और साहित्य-समीक्षा में पर्याप्त अन्तर है। कलाकार का सामयिक सिद्धान्तों के प्रति दृष्टिकोण विषयि प्रधान होता है, समीक्षक का विषयप्रधान। कलाकार जगत् को स्वयप्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करता है, आलोचक उसका बौद्धिक मूल्यांकन करता है। सौन्दर्यशास्त्र की देन को समझाना आलोचक का कार्य है, उसके द्वारा वह अभिरुचि का परिष्कार करता है। मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का समीक्षा में उपयोग करनेवाले समीक्षक को साहित्यगत चरित्र और कृतिकार-मानस में निहित अन्तर को जान लेना आवश्यक हो जाता है। समीक्षक मनोविश्लेषक नहीं है, इसलिए उसे समीक्षा में फ्रायडीय मनोविश्लेषण की उपयोगिता तथा सीमा को निर्धारित कर लेना चाहिए। उपयुक्त आलोचकों का कार्य इस दृष्टि से एक दिशा निर्धारित करने में सहायक है।

प्रेस्काट के मतानुसार स्वप्न निर्वचन कवि कल्पना के स्वरूपाख्यान में सहायक हो सकता है। स्वप्न दशा में चूंकि बाह्य यथार्थ का नियन्त्रण शिथिल हो जाता है, विचार विश्लेषणात्मक रूप को त्यागकर कल्पनात्मक और मूर्त रूप धारण करता है। दृश्य तथा मूर्त को शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त करने में कठिनाई कवि तथा स्वप्न दर्शक दोनों अनुभव करते हैं। पर कवि की कठिनाई स्वप्न दर्शक की कठिनाई से अधिक तीव्र होती है। कवि मन बालक का सा होता है, अतः वह अपनी बाह्य सीमाओं से मुक्त होकर शैशव की सुखभूमि में आसानी से प्रवेश कर सकता है। उसका प्रयोजन होता है अपने स्वप्न जीवन को सुचारु शब्दों में अभिव्यक्त करना, अवचेतन को इस प्रकार चेतनान्वित करना कि उसकी सुन्दरता नष्ट न हो। कवि की प्रतिभा अपने तात्कालिक स्वार्थों की पूर्ति नहीं करती, वह सर्वजन सुलभ भावों और आकांक्षाओं को आविष्कृत करता है। प्रेस्काट के इस दृष्टिकोण में दो तत्त्व निहित हैं—(१) कवि प्रतिभा का मूलस्रोत अवचेतन में होता है, और (२) स्वप्न प्रक्रिया और काव्य निर्माण का परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।[1]

---

1 This approach to poetic creation involves two separate consid erations First a proof that the sourc of much poetic inspira tion lies in the unconscious, especially as revealed in the dream and second, a study of the mech inism of the dream like and its association with the mechanics of poetic creation '
—Hoffman Freudianism And The Literary Mind, p 99

हर्बट रीड ने अपने विचारों की पुष्टि के लिए फ्रायड, युग तथा एडलर तीनों के सिद्धान्तों को अपनाया है। काव्य रूप के अन्तर्वर्ती स्रोत का स्वरूप निर्धारण, उनके अनुसार मनोविज्ञान की सहायता से हो सकता है। काव्य-सृजन के मानसिक स्रोत का अनुशीलन करते हुए उन्होंने फ्रायड के मानसिक संरचनात्मक सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। कलाकृति का इदम्, अहम् तथा पराहम् तीनों से गठजोड़ होना है। कवि को प्रेरणा इदम् से प्राप्त होती है, इदम् से ही शब्दों, ध्वनियों या बिम्बों का यत्रतत्र स्फुरण होता है, इन्हीं की सहायता से कवि कविता को रूपायित करता है। अहम् इन्हें संयोजित कर एकता में आबद्ध कर लेता है। पराहम् उन्हें आध्यात्मिक या सामयिक सिद्धान्तों में समाहित करता है।[1] रीड ने कलाकार के व्यक्तित्व के विश्लेषण को साहित्य-समीक्षा से भिन्न माना है। यद्यपि ये दोनों क्रियाएँ एक-दूसरे की सहायक हो सकती हैं। उनके अनुसार समीक्षक मनोविश्लेषण की सहायता से प्रेम की वयक्तिकता तथा मानसिक नियति जैसे तथ्यों को आसानी से जान सकता है।[2]

एडमंड विल्सन के अनुसार मनोविश्लेषण सामयिक साहित्य के मूल्यांकन में सहायता पहुँचाता है। मनोविश्लेषण आलोचक के भाव-बोध को विशालता प्रदान करता है। इसी आधार पर उन्होंने प्राचीन और आधुनिक साहित्य के समुचित मूल्यांकन की दिशा निर्धारित की है। उनका कथन है कि साहित्य की व्याख्या साहित्यकार के व्यक्तित्व की व्याख्या के आधार पर हो सकती है, पर साहित्य की आलोचना ऋणवृत्त नहीं है। फ्रायड के 'लिओनार्दो द विंची' को उन्होंने ऋणवृत्त माना है। उनके अनुसार आलोचक का कार्य है साहित्य की श्रेणियाँ निर्धारित करना, न कि केवल ऐतिहासिक या चरित्रात्मक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या करना।[3]

---

1 'The work of art, therefore has its correspondences with each region of the mind It derives its energy its irrationality and its mysterious power from the id which is to be regarded as the source of what we have called inspiration' It is given form l synthesis and unity by the ego and finally it may be assimilated to those ideologies or spiritual aspirations which are peculiar creations of the super ego '

—Herbert Read Collected Essays in Literary Criticism p 137

2 Ibid pp 126 127

3 He must still be able to tell good from bad literature to estimate a work on the basis of its formal excellence or its poverty of talent'

—Hoffman Freudianism And The Literary Mind p 103

वक ने फ्रायड की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग आलोचना म किया है, यह शब्दावली एक सुनिश्चित केन्द्रवर्ती सिद्धान्त पर आधारित है। उनका कथन है कि समीक्षक को स्नायु विकृति की प्रतीकात्मकता और काव्य की प्रतीकात्मकता के मूलगामी अतर को जान लेना चाहिए। मनोविश्लेपण और सौन्दयशास्त्र के प्रयोजनो की भिन्नता को स्वीकार करना उन्होने आवश्यक माना है।[1]

हाफमन के अनुसार मनोविश्लेपण आलोचक की सहायता दो दृष्टियो स करता है—१ कलाकार के मानसिक भावो को ग्रहण करने म, और २ साहित्य शैलो तथा रूपों के परिवतन को ग्रहण करने में। उनका मत है कि नये लेखको ने अभिव्यक्ति की साधारण पद्धति को त्यागकर अवचेतन के आदेशो का अनुसरण किया है। अति ययाथवादिता का फल है। अतियथाथवादी स्वप्न और यथाथ को परस्पराबद्ध कर लेते है। फ्रायड ने अवचेतन को आद्यमानस मानकर उस पर नियन्त्रण करने का माग स्पष्ट किया पर अतियथाथवादी उसी को सौन्दय का स्रोत मानते है। हाफमन का कथन है कि मनोविश्लेपण की साहित्य को देन महत्वपूण है। फ्रायड के 'द इन्टरप्रिटेशन आव ड्रीम्स' ने आधुनिक लेखको का ध्यान अवचेतन के प्रति आकृष्ट किया। उन्होने स्वप्न को चरित्र की गत्यात्मकता तथा कथावस्तु की रूपयोजना का समाहित रूप माना और सघनन विस्थापन, परवर्ती विशन्न जसे तत्वो पर आधारित नयी भाषा के प्रयोग की सम्भावना देखी।

'द थ्री कान्ट्रीब्युशन्स टु द थिअरी आव सक्स तथा, 'इन्ट्राडक्टरी लेक्चस आन सायकोएनालिसिस' से नयी शब्दावली उन्होने प्राप्त की। 'प्रेम त्रिकोण क नये रूप तथा ईडिपस ग्रन्थि को उन्होने स्वाकार किया। 'टोटम एण्ड टेबू', द फ्यूचर आव इल्यूजन और सिविलिजेशन एण्ड इटस डिस्कन्टेन्टस' का भी अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य पर प्रभाव पडा। सब सामाजिक सस्थाओ और कलाओ को भ्रमात्मक मानने की प्रवृत्ति को बल इनके द्वारा पाप्त हुआ। फ्रायड की इन रचनाओ में आधुनिक लेखको को निराशावाद की मूल भित्ति मिली। उपचारालय की घटनाओ में उन्हे गौण कथावस्तुओ तथा व्यगोक्तियों का मूलाधार प्राप्त हुआ।[2]

---

1 'But literary criticism must note the essential difference between neurotic symbolism and poetic symbolism "

—Ibid, p 105

2 The Interpretation of Dreams and especially the chapter on 'Dream work' affected writers variously It suggested the existence of an unconscious life in which patterns of conduct were not superficial but complex It offered the dream as a convenient summary of character motivation and even as a part of the plot structure itself '

ट्रिलिंग के अनुसार फ्रायड का मन स्वरूपाख्यान ही साहित्य की दृष्टि से महत्व पूर्ण है। मन ही काव्य सर्जक इंद्रिय है। मनुष्य के मनोगठन में फ्रायड को ऐसी प्रक्रियाए मिलीं जिनका प्रयोग कला को प्रभावकारी बनाने में सहायक हो सकता है। ट्रिलिंग ने फ्रायड के 'बियाण्ड द प्लेजर प्रिन्सिपल' में प्रतिपादित पुनरावृत्ति दबाव तथा मुमूर्षा विषयक सिद्धान्तों को शोकान्त साहित्य के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण माना है।[1]

साहित्य की मर्यादा और कामभाव

वात्स्यायन तथा फ्रायड दोनों ने कामप्रवृत्ति का तथा उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों का शास्त्रीय विवेचन किया है। वात्स्यायन ने शृंगार रस के विश्लेषण का पृष्ठभूमि तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। फ्रायड ने कला को यौन इच्छाओं का उदात्तीकरण माना है। कामप्रवृत्ति की सार्वजनीनता और प्रबलता में कोई संदेह नहीं है, पर क्या उसका स्वच्छन्द और नीतिनिरपेक्ष वर्णन साहित्य में अभीष्ट और वाञ्छनीय है?

सुखस्य हि स्त्रियो मूलम्' कहने वाले भरत मुनि का आदेश है कि रंगमंच पर शयन, चुम्बनालिंगन, दन्तक्षत, नखक्षत, नीवीस्रंसन, स्तनान्तरविमर्द, जलक्रीड़ा आदि लज्जाकर दृश्य वर्जनीय है।[2] नाट्य को त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन अथवा नानाभावों और अवस्थाओं से युक्त लोकवृत्तानुकरण घोषित करने वाले भरत लोकमंगल की दृष्टि

"The Three Contributions To A Theory of Sex" together with other books of the time and Freud's earlier book of Introductory Lectures furnished a set of psychological terms which were often applied with more facility than judgement '

The clinical situation was itself responsible for many incidental subplots and especially for satire "

—Ibid, pp 113 114

1 'Indeed the mind as Freud sees it is in the greater part of its tendency exactly a poetry making organ '

'Freud discovered in the very organization of the mind those mechanisms by which art makes its effects such devices as the condensations of meanings and the displacement of accent "

' The idea is one which stands besides Aristotle's notion of catharsis in part to supplement in part to modify it

—Lionel Trilling Freud And Literature in "The Liberal Imagination pp 52 54

२ नाट्यशास्त्रम्, जी ओ एस, २२ २९५-२९६

पय में रखकर व्रीडाजनक दृश्यों को निषिद्ध कर दत है। विश्वनाथ ने इन निषिद्ध क्रियाओं में विवाह, रत स्नान और अनुलेपन को भी परिगणित किया है।[1] आनन्द वर्धन की स्थापना विशुद्ध काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अनौचित्य को रसभग का एकमात्र कारण माना है।[2] जगन्नाथ के अनुसार लोक तथा शास्त्र के विरुद्ध द्रव्य, गुण और क्रिया अनुचित है। जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, प्रकृति और व्यवहार के सम्बन्ध म लोक शास्त्र विरोध ही अनौचित्य है।[3] इससे स्पष्ट है कि रसभग के दो कारण है—१ लोक प्रकृति और लोक-व्यवहार का विरोध, और २ नीतिशास्त्र का विरोध। इनसे बाधित रसप्रतीति को 'रसाभास' सज्ञा दी जाती है। प्रकृतिविषयक अनौचित्य को स्पष्ट करते हुए जगन्नाथ कहते है कि दिव्य आलम्बनो की रति का वर्णन सुनकर भावक रसानुभूति नही कर सकेगा, यहाँ साधारणीकरण नही हो सकता। साधारणीकरण सार्वत्रिक नहीं है, 'अन्यथा स्वमातृविषयक स्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्ते'। 'गीतगोविन्द' म इस अनौचित्य को देखकर जगन्नाथ ने जयदेव का अनुकरण न करने का परामर्श दिया है।[4] विश्वनाथ ने उपनायकविषयक, *मुनि-गुरु पत्नी विषयक, बहुनायक विषयक, प्रतिनायक विषयक, अनुभयनिष्ठ अधमपात्र* निष्ठ और पशुपक्षादिनिष्ठ रतिवर्णन को शृगाराभास के अन्तर्गत रखा है।[5] इसके अतिरिक्त अश्लीलत्व और ग्राम्यत्व को काव्य शास्त्रकारो ने दोषों म गिनाया है।[6]

नाटघ-काव्यशास्त्र के उपयुक्त विचारो से निम्नोक्त तथ्य स्पष्ट होते हैं—

१ विशुद्ध काव्यशास्त्र की दृष्टि से निर्विघ्न रसप्रतीति ही चरम उद्देश्य है, पर चूँकि दिव्यालम्बनादिविषयक रति इसमें बाधा पहुचाती है, उसे निषिद्ध माना गया है।

२ दर्शक तथा पाठक के मनोगठन का ध्यान रखकर औचित्यानौचित्य की व्याख्या रसशास्त्रियो ने की है।

३ व्रीडाजनक को वर्जनीय घोषित करने के मूल म नाटक की अभिनेयता और दृश्यात्मकता के प्रभाव का तत्त्व है। अनुचित दृश्य को देखना उसके वर्णन को पढने की अपेक्षा अधिक अवाछनीय है।

---

१ साहित्यदर्पण, चौखम्बा विद्याभवन, ६ १६ १८
२ अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणम्।—ध्वन्यालोक, पृ० १६०
३ रसगगाधर, चौखम्बा विद्याभवन, पृ० १६५
४ रसगगाधर, चौखम्बा, पृ० १६७ ६८
५ साहित्यदर्पण, चौखम्बा, ३ २६३ ६४
६ वही, पृ० ६०० ६०१

४ संस्कृत काव्यशास्त्र पर नीतिशास्त्र का विशेष प्रभाव होने के कारण उसकी मान्यताएँ कामशास्त्रानुकूल होते हुए भी सयत रही हैं।

कवियो और साहित्यकारों ने इस मर्यादा का उल्लघन किया है। कालिदास ने अपने 'कुमारसम्भव' में 'जगत पितरौ' पार्वती परमेश्वर की रति का वर्णन किया है। श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' में कामसूत्रोक्त रतोपचारों के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। 'श्रीमद्भागवत' में कृष्ण की गोपियो के साथ की गयी अनेक शृगारलीलाओ का निरावरण अकन हुआ है। साहित्य में ही नहीं धर्म-साधना में भी कामप्रवृति को महत्व पूर्ण स्थान दिया गया है। मन्दिरो व शिल्प में भी काम भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। मथुरा से प्राप्त मूर्तियो में नग्न स्त्रियो की मूर्तियाँ हैं। भुवनेश्वर के लिंगराज मन्दिर और खजुराहो के कान्द्य-महादेव मन्दिर में सबैसनतर के शिल्प प्राप्त होते हैं। पुरी के जगन्नाथ और कोणार्क के सूर्य मन्दिरों में भी शृगार मूर्तियो की प्रतिष्ठा है।[1]

साहित्य में अभिव्यक्त निरावरण काम वर्णन पर नीति के पक्षपातियो ने कठोर प्रहार किया है। उनका कथन है कि अश्लील साहित्य व्यक्ति और समाज को अध पतित बना देता है। व्यक्ति की निन्दनीय और पशुस्तरीय प्रवृत्तियों को उत्तेजित कर उसे स्वच्छन्दाचार की प्रेरणा प्रदान करता है। वह प्रकृति में को विकृति में परिवर्तित कर देता है। वह व्यभिचार को प्रोत्साहित करता है और आदर्श की अवहेलना कर केवल बुराइयो और बीभत्स दृश्यो का अकन करता है। ऐसा साहित्य समाज के लिए हानिकर और कलकभूत है। जीवन के उच्च आदर्शो से भ्रष्ट यह साहित्य चतुर्वर्ग की सिद्धि में सहायता नही पहुँचाता। इस अनैतिक और अश्लील साहित्य पर रोक लगा देना सरकार का उत्तरदायित्व माना जाता है।

इस आदर्शवाद और नीतिवाद का घोर विरोध करने वाली प्रवृत्तियाँ भी साहित्य समीक्षा में दृष्टिगत होती है। कलार्थ कला को घोषित करने वाले कलावादी साहित्य के रूप-तत्व को प्रधानता देते है। उनके अनुसार कला का नीति-अनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है कला का प्रयोजन न शिव-तत्व का मण्डन करना है और न अनीति का खण्डन। कलाकार स्वयभू निरकुश और स्वतन्त्रचेता है जो किसी कलेतर सिद्धान्त के अनुशासन को स्वीकार कर अपनी स्वतन्त्र एव नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का गला घोंटना नही चाहता। कलाकार अपनी सृष्टि का विधाता है सौन्दर्य-सृजन के अतिरिक्त उसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता।

यथार्थवादी प्रकृतिवादी भी इस नीतिवाद का विरोध करते हैं। उनके अनुसार समाज का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करना ही कलाकार का एकमात्र लक्ष्य है। चूंकि समाज

---

१ डॉ० मिथिलेश कान्ति हिन्दी भक्ति शृगार का स्वरूप, १९६३, पृष्ठ १५ १७

में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ, शिव और अशिव, सत्य और असत्य, सुन्दर और असुन्दर का आगार है अवांछनीय बातों का अंकन भी साहित्य में अनिवार्य है। केवल शिव एवं वांछनीय का चित्र प्रस्तुत करने को कलाकार को बाध्य नहीं किया जा सकता। अति यथार्थवाद तो फ्रायडीय मनोविश्लेषण के धरातल पर सुप्रतिष्ठित है। अवचेतन स्थित कुण्ठाओं समाज स्थित अनीतियों और बाह्य आक्रमणों से निरुद्ध निषिद्ध इच्छाओं तथा उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न विकृतियों का यथातथ्य चित्रण अगर वह करे तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

फिर भी संसार के सभी देशों में ऐसा वैधिक विधान स्वीकृत किया गया है जिसके द्वारा अश्लील साहित्य के लेखक प्रकाशक, प्रचारक और विक्रेता को दण्डनीय माना जाता है। काम भाव को उत्तेजित करने वाले तथा नग्न सम्भोग के चित्र प्रस्तुत करने वाले विकृत असामाजिक साहित्य पर इसलिए रोक लगा दी जाती है कि वह पाठक को नीतिभ्रष्ट करता है। यह श्लीलाश्लीलविवेक किसी देशविशेष की विशिष्ट संस्कृति, नीति तथा सामाजिक आचार-व्यवहार के आदर्शों पर अधिष्ठित होता है। अतः अश्लीलता का विश्व में सम्मत और ठोस तत्व निर्धारित करना दुष्कर है।

साहित्य और अश्लीलता की मीमांसा करते समय अश्लीलता के दो रूपों की विवेचना आवश्यक हो जाती है—१ साहित्यगत अश्लीलता और २ आस्वादकगत अश्लीलता। प्रायः कहा जाता है कि कलाकार अपनी अनुभूतियों को शब्दों, स्वरों, रंगों आदि की सहायता से अभिव्यक्त करता है। इस प्रक्रिया में कलाकार की अनुभूति का व्यक्तिगत अंश जब तिरोहित हो जाता है तभी वह सम्प्रेषणीय बनती है। अन्यथा उसकी अभिव्यक्ति कलात्मक नहीं मानी जा सकती। अनुभूति की निर्वैयक्तिकता पर ही कला की अलौकिकता निर्भर करती है। इस मनोविकारशून्य असाधारण अनुभूति का रूप ही कला में स्वीकार्य माना जाता है। कलाकार जब अपने को अपनी ही अनुभूति से तटस्थ नहीं रख सकता तब उसकी वैयक्तिक वासना उसकी कृति में अभिव्यक्त हो जाती है। ऐसी कलाकृति उच्चकोटि की नहीं मानी जाती। पर उच्चकोटि की कलाकृति कभी अश्लील नहीं हो सकती।[१] अतः साहित्य को अश्लील घोषित करते समय यह निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि वह कला की उच्चकोटि में रखा जा सकता है या नहीं।[२] रससिद्ध साहित्यकार का उद्देश्य अनैतिकता का प्रचार या व्यभिचार का खण्डन करना कदापि नहीं हो सकता। उसके वर्ण्य विभावादि यद्यपि लोकनिरपेक्ष नहीं होते फिर भी लोक भिन्न होते हैं। इसी कारण कवि-कृति 'नियतिकृतनियमरहिता',

---

१ वा ल कुलकर्णी 'अश्लीलता एक परिसंवाद' में 'वाङ्मय आणि अश्लीलता एक विचार, पृष्ठ ४५

२ गंगाधर गाडगीळ 'अश्लीलता व साहित्य', वही, पृष्ठ ३३

'ह्लादैकमयी' तथा 'अनन्यपरतन्त्रा' होती है।[1] काव्य में कवि के लौकिक व्यक्तित्व की नहीं, कलात्मक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। आनन्दवर्धन की "शृंगारी चेत् कवि काव्ये जातं रसमयं जगत्' उक्ति की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं कि शृंगारी का अर्थ स्त्री व्यसनी नहीं अपितु शृंगार के विभावादि की चर्वणारूप प्रतीति कराने वाला होता है।[2] अतः आत्मनिष्ठ काव्य तक में लौकिक अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसका काव्य रूप ही अभिव्यक्त होता है।[3] फ्रायड के अनुसार कलाकार में उन्नयन की क्षमता होती है जिसकी सहायता से वह अपने दिवास्वप्नों के वैयक्तिक अंश को तिरोभूत कर आनन्दकर कला का सृजन करता है। अतः विशुद्ध कला का नैतिक या लौकिक आचार सिद्धान्तों के आधार पर मूल्यांकन करना असंगत लगता है।

साहित्यगत अश्लीलता के समान आस्वादकगत अश्लीलता भी एक मिथ्या धारणा है। साहित्य का आस्वाद करते समय सहृदय में उद्भूत भाव निरुद्देश्य होते हैं, न कि सोद्देश्य। लौकिक जीवन में उद्बुद्ध काम भाव की सन्तुष्टि स्त्री सहवास से होती है पर साहित्यास्वाद में उद्बुद्ध 'रति' की परिणति रसानन्द में होती है। अतः काव्यगत शृङ्गार से न सहृदय का काम भाव उत्तेजित होता है, न उसे कामाचार की प्रेरणा प्राप्त होती है।[4] काव्यकृति सहृदय के स्वार्थपरक भावों को उकसाने का कार्य नहीं करती। आस्वादक केवल उसमें निहित अलौकिक रस का आस्वाद करता है। जो व्यक्ति इस रस दशा की कोटि तक नहीं पहुँच पाता वही उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर वासना में लिप्त हो जाता है। पर ऐसे व्यक्ति को 'सहृदय' या 'सामाजिक' कहने में काव्य शास्त्री को संकोच हो सकता है। रोजर फ्राइ जैसे कलावादी कलास्वाद को जीवनानुभूति से एकान्ततः भिन्न मानते हैं और जीवनगत मूल्यों को निरर्थक घोषित करते हैं। पर संस्कृत काव्यशास्त्री यद्यपि काव्यानुभूति को जीवनानुभूति से विलक्षण मानते हैं फिर भी जीवनगत मूल्यों का तिरस्कार नहीं करते।[5] ड्यूई और रिचर्ड्स कलानुभूति को एक विशेष प्रकार की जीवनानुभूति मानते हैं। आचार्य शुक्ल भी रसानुभूति और वास्तविक अनुभूति में व्यावहारिक भेद नहीं मानते, केवल उसे वास्तविक अनुभूति का उदात्त और अवदात रूप मानते हैं।[6] इसी कारण लोकमंगल की दृष्टि पथ में रखकर वे सूर का यथार्थ मूल्यांकन नहीं कर पाये।[7]

१ मम्मट काव्य प्रकाश, १ १
२ ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ५६०
३ जार्ज राइट द पोएट इन द पोएम पृ० ७ ८
४ गंगाधर गाडगील अश्लीलता व साहित्य, पृ० ३२
५ निर्मला जैन रससिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, पृ० ६७
६ वही पृ० ६७
७ डा० नगेन्द्र रससिद्धान्त, पृ० ३३३

निष्कर्ष

१ कामप्रवृत्ति एक प्रबल सहजजात प्रेरणा है। काव्य में इसकी प्रधानता देखक वात्स्यायन ने उसे कामागभूत विद्याओं में परिगणित किया है।

२ फ्रायड साहित्य में इसके उन्नत्तोद्भूत रूप की महत्ता स्वीकार करते हैं।

३ इस काम भाव को अलौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने पर शृङ्गार र की सृष्टि होती है। पर लोकसामान्य काम भाव की ऐकान्तिक अभिव्यक्ति शृङ्गार र में अन्तर्भुक्त नहीं हो सकती।

४ भक्ति या मधुर रस शृङ्गार का ही एक उदात्त और अवनत रूप है। फ्राय के अनुसार वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि के रूप में अभिव्यक्त देवादिविषयक रति को 'रति के अन्तर्गत रखना समीचीन है।

५ काम प्रवृत्ति मूलत निन्दनीय और हेय नहीं है। अत उसकी प्रधानता दे कर काव्य को अश्लील या अनैतिक घोषित करना उचित नहीं है।

६ नाट्य काव्यशास्त्र पर कामसूत्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित समस्त रस सामग्री का मूलस्रोत कामसूत्र में ही प्रा होता है। शृंगार रस उसके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव नायक नायिका भेद उनके अलंकरण, अभिनय आदि के विवेचन में भरत ने वात्स्यायन का अनुसर किया है।

७ फ्रायड का स्वप्न सिद्धान्त साहित्य की सृजन प्रक्रिया को समझने में सहाय होता है। फ्रायड ने कला या साहित्य को स्थानापन्न परितुष्टि कहा है और कलाकार क मनोविकृति को स्पष्ट किया है। कतिपय पाश्चात्य आलोचकों ने फ्रायड के सिद्धान्तों क स्वीकार किया है। अल्बर्ट मार्डेल जैसे अतिवादियों ने कला और रुग्णता के पारस्परि सम्बन्ध पर बल दिया है।

८ वात्स्यायन और फ्रायड के सन्दर्भ में काव्य का अनुशीलन निम्नलिखित तत्त्व के आधार पर किया जा सकता है—

(अ) काम भाव का स्वरूप
(आ) सांस्कृतिक, सामाजिक और दार्शनिक तत्त्व
(इ) नायक नायिका भेद
(ई) रूप-वर्णन
(उ) रति-क्रीडा का वर्णन
(ऊ) संयोग और वियोग का वर्णन
(ऋ) कामदशाएँ
(ए) साहित्यिक तत्त्व। □ □